हितोपदेशः

"अभिनव हिन्दी टीका समलंकृतः"

प्रस्ताविका

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥१॥

गंगा की फेन की रेखा के समान, चन्द्रमा की कला जिनके माथे पर शोभित है, उन चन्द्र शेखर शंकर की कृपा से सज्जनों के सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हों ॥१॥

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥२॥

यह हितोपदेश सुनने से संस्कृत उक्तियों में (बोलने में) चतुरता, वाणी में सब जगह विचित्रता और नीति विद्या को प्रदान करता है ॥२॥

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥३॥

बुद्धिमान को अपने को अजर-अमर समझ कर विद्या एवं धन का संचय करना चाहिये । (और यह सोचकर) कि मृत्यु ने बाल पकड़ रखे हैं, धर्म का आचरण करना चाहिये ॥३॥

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥४॥

सदा चोरों द्वारा न चुराये जा सकने के कारण, बहुमूल्य होने के कारण, और कभी क्षय न हो सकने के कारण, सभी धनों में विद्या ही अनुपम धन कहा गया है ॥४॥

संयोजयति विद्यैव नीचगापि नरं सरित् ।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥५॥

जैसे तुच्छ तिनकों से मिलने वाली नदी उन तिनकों को समुद्र से मिला देती है, उसी प्रकार नीच पुरुष को प्राप्त विद्या भी राजा से मिला देती है फिर इसके बाद वह भाग्योदय करती है ॥५॥

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥६॥
विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य द्वे विद्ये प्रतिपत्तये ।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाद्रियते सदा ॥७॥

विद्या विनय देती है, विनय से पात्रता (योग्यता) आती है। योग्यता से धन आता है, धन से धर्म होता है, इसके बाद सुख होता है ॥६॥

शस्त्र विद्या एवं शास्त्र विद्यायें दो विद्या ये ज्ञान के लिये होती हैं। इनमें से प्रथम (शस्त्र विद्या) बुढ़ापे में हँसी कराती है और दूसरी (शास्त्र विद्या) सदैव आदर कराती है ॥७॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत् ।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥८॥

जैसे नये वर्तन में लगा हुआ कोई चिन्ह पीछे नहीं मिटता है, ठीक उसी प्रकार कथा के बहाने से बच्चों को मैं यह नीति कहता हूँ ॥८॥

मित्रलाभः सुहृद्भेदो विग्रहः संधिरेव च ।
पञ्चतन्त्रात्तथाऽन्यस्माद्ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥९॥

मित्र लाभ, सुहृदभेद, विग्रह और संधि ये चार भाग पंच तंत्र तथा अन्य नीति ग्रन्थों से लेकर (सार-ग्रहण कर) लिखे जाते हैं ॥९॥

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्वस्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् । स भूपतिरेकदा केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव—

"अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥१०
यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम् ?" ॥११

गंगा के किनारे पाटलिपुत्र नामका नगर है । वहाँ राजा के सम्पूर्ण गुणों से युक्त सुदर्शन नामका एक राजा रहता था । उस राजा ने एक बार किसी के द्वारा पढ़े जाते हुए ये दो श्लोक सुने—

अनेक संशयों को दूर करने वाला एवं छिपे हुए अर्थ को दिखाने वाला, सबका नेत्र शास्त्र होता है । जिसके पास ये ज्ञान रूपी नेत्र नहीं हैं । वह अन्धा हैं ॥१०॥ यौवन, धन-संपत्ति, प्रभुत्व (प्रभुता) एवं अविवेकता इनमें से एक-एक वस्तु भी अनर्थ करने वाली है, फिर जिसके पास ये चारों हों उसका तो कहना ही क्या ? ॥११॥

इत्याकर्ण्यात्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास—

'कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः।
काणेन चक्षुषा किं वा, चक्षुःपीडैव केवलम् ॥१२

अजात-मृत-मूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः।
सकृद्दुःखकरावाद्यवन्तिमस्तु पदे पदे ॥१३॥

इन श्लोकों को सुन कर अपने शास्त्र न पढ़ने वाले, प्रति दिन कुमार्ग पर चलने वाले, पुत्रों को, शास्त्र न पढ़ने के कारण, उद्विग्न मन वाले, उस राजा ने सोचा—

उस पुत्र के उत्पन्न होने से क्या लाभ जो न विद्वान है न धार्मिक। जैसे-काणी आँख से क्या लाभ ? उससे तो केवल आँख को पीड़ा ही होती है ॥१२॥ न पैदा हुआ, मरा हुआ और मूर्ख इन तीन प्रकार के पुत्रों में से पहले दो अच्छे हैं। अन्तिम (मूर्ख पुत्र) अच्छा नहीं। क्योंकि पहले दोनों तो केवल एक बार ही दुःख देते हैं परन्तु अन्तिम तो पग पग पर (हमेशा) दुःख देता है ॥१३॥

किंच,—

वरं गर्भस्रावो वरमपि च नैवाभिगमनं
वरं जातः प्रेतो वरमपि च कन्यैव जनिता।
वरं वंध्या भार्या वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाऽविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥१४॥

गर्भ पात हो जाना श्रेष्ठ है, और कभी स्त्री प्रसंग (संभोग) न करना भी श्रेष्ठ है, उत्पन्न होकर मर जाना भी श्रेष्ठ है, कन्या ही का जन्म होना भी श्रेष्ठ है, स्त्री का बांझ हो जाना भी ठीक है,

अथवा उसका गर्भ में ही रहना अच्छा है लेकिन रूप युक्त, धन युक्त, मूर्ख पुत्र अच्छा नहीं ॥१४॥

किंच--

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ? ॥१५
गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी सुसंभ्रमाद्यस्य ।
तेनाम्बा यदि सुतिनी वद वन्ध्या कीदृशी नाम ॥१६॥

और भी—इस परिवर्तन शील संसार में मर कर कौन मनुष्य पैदा नहीं होता (अर्थात् लोग मरते हैं फिर जन्म लेते हैं) परन्तु उसी का उत्पन्न होना (जन्म लेना) श्रेष्ठ है जिससे उत्पन्न होने से वंश की उन्नति हो ॥१५॥ गुणियों की गणना के समय जिसका नाम संभ्रम पूर्वक कन्नी (छोटी) अंगुली पर नहीं आता तो यदि ऐसे पुत्र से भी जो माता पुत्रवती कहलाती है तो फिर कहो बांझ किसे कहते हैं ? अर्थात् जिस माता का पुत्र गुणहीन है वह वास्तव में ही बाँझ है ॥१६॥

अपि च,—

दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः ।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥१७॥

और भी कहा गया है—दान में, तप में, वीरता में, विद्या अध्ययन में, अर्थ उपार्जन में जिसका मन नहीं लगा वह पुत्र अपनी माँ के मल (विष्ठा) के समान है ॥१७॥

अपरं च,—

वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणा अपि ॥१८
पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्काप्यतिदुष्करम् ।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥१९॥

और भी—एक गुणी पुत्र श्रेष्ठ हैं, सैकड़ों मूर्ख पुत्र अच्छे नहीं। एक चन्द्रमा अंधकार को दूर कर देता है लेकिन सैकड़ों तारे नहीं ॥१८॥ जिस मनुष्य ने किसी पवित्र तीर्थ में अत्यन्त कठिन तप किया है उसी का पुत्र आज्ञा कारी धनवान, धार्मिक और विद्वान होता है ॥१९॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ! ॥२०॥

हे राजन् ! नित्य धन का आना, निरोग रहना, और मधुर बोलने वाली प्रिय पत्नी, आज्ञाकारी बेटा, और धन का लाभ कराने वाली विद्या ये संसार में छः सुख हैं ॥२०॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रः कुशूलापूरणाढकैः ? ।
वरमेकः कुलालम्बी यत्र विश्रूयते पिता ॥२१॥
ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी ।
भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥२२॥

आढक (चार सेर वजन्) भरने वाले कुशूल (अन्न भरने के कोठार) पेट वाले अर्थात् बहुत खाने वाले बहुत से पुत्रों के द्वारा कौन धन्य है ? अर्थात् किसे बड़ाई मिली है। कुल को आधार देने वाला एक पुत्र ही श्रेष्ठ है जिससे पिता का नाम प्रसिद्ध होता है ॥२१॥ ऋण करने वाला पिता शत्रु होता है, माता व्यभिचारिणी शत्रु होती है, अत्यन्त रूपवान पत्नी शत्रु होती है तथा मूर्ख पुत्र शत्रु होता है ॥२२॥

अनभ्यासे विषं विद्या अजीर्णे भोजनं विषम् ।
विषं सभा दरिद्रस्य वृद्धस्य तरुणी विषम् ॥२३
यस्य कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः ।
धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति ? ॥ २४

अभ्यास के बिना विद्या विष के समान होती है । अजीर्ण में भोजन विष के समान होता है । गरीब के लिये सभा विष होती है, वृद्ध व्यक्ति के लिये नौजवान (युवती) नारी विष होती हैं ॥२३॥ जिस किसी के द्वारा भी उत्पन्न हो किन्तु गुणवान मनुष्य पूजा जाता है । अच्छे बाँस का बना हुआ धनुष भी यदि निर्गुण है (प्रत्यंचा, डोरी रहित हैं) तो वह क्या कर सकता है ? अर्थात् निर्गुण गुण रहित का कोई आदर–सम्मान नहीं होता ॥२४॥

तत्कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ।

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना ॥२५॥

तो किसी प्रकार अब ये मेरे पुत्र गुणवान हों—(अर्थात् मेरे पुत्रों को गुणवान किसी प्रकार कीजिये)—

भोजन, नींद, भय और मैथुन (सोम) ये पशुओं और मनुष्यों में समान होते हैं । केवल मनुष्यों में धर्म ही अधिक होता है और धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान होता है ॥२५॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥२६॥

क्योंकि—जिस मनुष्य के पास धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनमें से एक भी न हो तो उसका जन्म बकरी के गले के थन के समान व्यर्थ (बेकार) होता है ॥२६॥

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥२८॥

जैसा कि कहा जाता है—आयु, कर्म और वित्त (धन), विद्या और मृत्यु ये पाँच बातें मनुष्य के गर्भ में ही पैदा हो जाती है अर्थात् गर्भ में ही लिख दी जाती हैं ॥२७॥

किंच,—

अवश्यंभाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य महाहिशयनं हरेः ॥२८॥

और, अवश्य होने वाली घटनायें बड़ों-बड़ों को भी होती हैं। जैसे—नीलकंठ महादेव का नंगा होना और भगवान विष्णु का शेष नाग पर सोना (शयन करना) ॥२८॥

अपि च,—

यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ? ॥२९॥

और भी, जो होनहार नहीं है, वह कभी हो नहीं सकती। जो होनहार है उसे कोई अन्यथा नहीं कर सकता। अतः इस चिन्ता रूपी विष को नष्ट करने वाली औषधि क्यों नहीं पीते ? (अर्थात् अवश्य पीनी चाहिये) ॥२९॥

एतत्कार्याक्षमाणां केषांचिदालस्यवचनम् ।

न दैवमपि संचिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।
अनुद्योगेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ? ॥३०॥

ये तो कार्य में अक्षम किन्हीं आलसी का वचन है—भाग्य के विषय में भी सोचकर अपने उद्योग को नहीं छोड़ना चाहिये। विना उद्योग के तिलों में से कौन तेल प्राप्त कर सकता है? (अर्थात् विना उद्योग तिलों से तेल नहीं निकाला जा सकता) ॥३०॥

अन्यच्च,—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
'दैवेन देय' मिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः? ॥३१॥

और भी—उद्योग पुरुष सिंह लक्ष्मी प्राप्त करता है। भाग्य देता है ऐसा कायर लोग कहते हैं। अतः भाग्य को छोड़कर, अपनी शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ (श्रम) करना चाहिये। यत्न करने पर भी यदि कार्य सिद्ध नहीं होता तो इसमें क्या दोष है? (अर्थात् इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं) ॥३१॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥३२॥

जैसे एक पहिये से रथ की गति (चाल) नहीं होती उसी प्रकार विना पुरुषार्थ के भाग्य नहीं फलता ॥३२॥

तथा च,—

पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते।
तस्मात्पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥३३॥
यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद्यदिच्छति।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥३४॥

और—पूर्व जन्म में किया हुआ कर्म ही (इस जन्म में) भाग्य कहा जाता है। इसलिये मनुष्य को आलस्य छोड़कर प्रयत्न (श्रम,

उद्योग) करना चाहिये ॥३३॥ जैसे कुम्हार मिट्टी के पिण्ड से जैसा चाहता है वही बनाता है। इसी प्रकार अपने किये हुए कर्म को ही मनुष्य प्राप्त करता है ॥३४॥

काकतालीयवत् प्राप्तं दृष्ट्वापि निधिमग्रतः।
न स्वयं दैवमादत्ते पुरुषार्थमपेक्षते ॥३५॥
उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥३६॥

काकतालीय न्याय के समान सामने खजाने को पाकर भी, भाग्य स्वयं उसे ग्रहण नहीं करता, किन्तु पुरुषार्थ की अपेक्षा करता है। (काकतालीय न्याय की एक कहावत है, कहते हैं एक ताड़ के वृक्ष के नीचे एक पथिक बैठा था, उसी पेड़ पर एक कौआ बैठा था। जैसे ही कौआ उड़ा तो एक पका ताड़ का फल नीचे गिरा। फल तो अपने आप गिरा था पर पथिक ने सोचा कि कौए के उड़ने से ऐसा हुआ। अतः जब दो बातें संयोग से हो जाँय, चाहे परस्पर सम्बन्ध न हो तो लोग इस उक्ति का प्रयोग करते हैं) ॥३५॥ उद्यम से ही कार्य सिद्ध होते हैं, मनोरथों से नहीं। सोते हुए सिंह के मुख में मृग (हिरन-जानवर) आप नहीं घुस जाते ॥३६॥

मातृपितृकृताभ्यासो गुणितामेति बालकः।
न गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रो भवति पण्डितः ॥३७॥
माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥३८॥

माता-पिता द्वारा अभ्यास कराया हुआ बालक गुणवान बनता है। पुत्र गर्भ से बाहर आते ही पण्डित नहीं होता ॥३७॥ माता शत्रु और पिता वैरी हैं जो अपने बच्चों को नहीं पढ़ाता। वह बालक सभी

के बीच में इस प्रकार शोभा को प्राप्त नहीं होता जैसे हँसों के बीच में बगुला ॥३८॥

रूपयौवनसंपन्ना विशालकुलसंभवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥३९॥
मूर्खोऽपि शोभते तावत् सभायां वस्त्रवेष्टितः ।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किंचिन्न भाषते' ॥४०॥

रूप और यौवन से सम्पन्न, बड़े कुल में उत्पन्न हुआ, विद्या से हीन मनुष्य शोभा को प्राप्त नहीं होता जैसे गन्ध रहित टेसू का फूल ॥३९॥ मूर्ख भी सभी में अच्छे वस्त्र पहनकर (सज धज कर) तभी तक शोभा को प्राप्त करता है, जब तक कि कुछ भी नहीं बोलता ॥४०॥

एतच्चिन्तयित्वा स राजा पण्डितसभां कारितवान् । राजोवाच—'भो भोः पण्डिताः ! श्रूयताम् । अस्ति कश्चिदेवंभूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः ?

ऐसा सोचकर उस राजा ने पण्डितों की सभा की। राजा ने कहा—अरे अरे पण्डितों सुनो। क्या यहाँ ऐसा कोई विद्वान है जो नित्य गलत मार्ग पर चलने वाले, शास्त्रों का अध्ययन न करने वाले मेरे पुत्रों को, इस समय नीति शास्त्र के उपदेश से, पुनर्जन्म कराने में समर्थ हों ?

यतः,—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम् ।
तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥४१॥

क्योंकि—काँच स्वर्ण के संसर्ग से मरकत मणि की शोभा को धारण कर लेता है। उसी प्रकार सज्जनों के संग से मूर्ख भी चतुर हो जाता है ॥४१॥

उक्तं च,—

हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात्।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम्' ॥४२॥

और कहा है—हे तात ! नीच लोगों की संगति करने से बुद्धि हीन हो जाती है। समान लोगों के पास बैठने से समान और विशेष लोगों के पास बैठने से विशेष बुद्धि होती है ॥४२॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्र-तत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाब्रवीत्—'देव ! महाकुलसंभूता एते राज-पुत्राः। तन्मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते ॥३३॥

इसके उपरान्त विष्णु शर्मा नामका महान पण्डित, समस्त नीति शास्त्र का ज्ञाता, बृहस्पति के समान बोला—महाराज ! ये राज पुत्र बड़े कुल में उत्पन्न हुए हैं। इसलिये मैं इन्हें नीति सिखा सकता हूँ।

यतः,—

नाद्रव्ये निहिता काचित्क्रिया फलवती भवेत्।
न व्यापारशतेनापि शुकवत् पाठ्यते वकः ॥४३॥

क्योंकि—अद्रव्य में स्थापित कोई भी क्रिया सफल नहीं होती अर्थात् अयोग्य के साथ किया गया कार्य सफल नहीं होता जैसे अनेक उपाय करने पर भी तोते के समान बगुले को नहीं पढ़ाया जा सकता ॥४३॥

अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नापत्यमुपजायते ।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ? ॥४४॥

और भी कहा है—इस राज कुल में गुण रहित सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि पद्मराग मणियों की खान में कांच मणि का जन्म कहाँ हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता) ॥४४॥

अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तरे तव पुत्रान्नीतिशास्त्राभिज्ञान्करिष्यामि' । राजा सविनयं पुनरुवाच—

अतः मैं छः महीने के अन्दर तुम्हारे पुत्रों को नीति शास्त्र में निपुण कर दूँगा । राजा ने फिर विनय पूर्वक कहा—

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः ॥४५॥

कीड़ा भी पुष्प के सहयोग से सज्जनों के शिर पर चढ़ जाता है और बड़े मनुष्यों के द्वारा स्थापित पाषाण भी देवता बन जाता है ।

अन्यच्च,—

यथोदयगिरेर्द्रव्यं संनिकर्षेण दीप्यते ।
तथा सत्संनिधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥४६॥

और दूसरे—जैसे उदयाचल पर्वत पर पदार्थ सूर्य की किरणों के संसर्ग से चमकने लगती है उसी प्रकार सज्जनों के साथ से हीन वर्ण भी (मूर्ख भी) शोभा को प्राप्त होने लगते हैं ॥४६॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
आस्वाद्यतोयाः प्रभवन्ति नद्यः
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥४७॥

गुण, गुणियों में मिल जाने से गुण हो जाते हैं। वे ही गुण मूर्खों में मिल जाने से दोष बन जाते हैं। जैसे नदियाँ मीठे जल की होती हैं परन्तु समुद्र में जाकर अपेय (खारी) हो जाती है ॥४७॥

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम्।' इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो बहुमानपुरःसरं पुत्रान्समर्पितवान्—

अतः मेरे इन पुत्रों को नीति शास्त्र के उपदेश के लिये आप सब प्रकार से समर्थ हैं—ऐसा कहकर बड़े आदर के साथ विष्णु शर्मा को अपने पुत्रों को सौंप दिया ॥४८॥

——

हितोपदेश

मित्र लाभः

[कौए, कछुए, मृग और चूहे की कथा]

अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजतुत्राणां पुरस्तात्प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्—

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा' ॥१॥

इसके उपरान्त महल के ऊपर सुख पूर्वक बैठे हुए राज पुत्रों के सामने प्रस्तावना के रूप में उस पण्डित ने कहा—

काव्य शास्त्र के विनोद में विद्वानों का समय-व्यतीत होता है तथा मूर्खों का समय निद्रा अथवा कलह में बीतता है ॥१॥

'तभ्दवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि ।' राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य ! कथ्यताम् ।' विष्णुशर्मोवाच–'शृणुतः संप्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते । यस्यायमाद्यः श्लोकः—

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः ।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककर्ममृगाखुवत्' ॥२॥

तो मैं आप लोगों की प्रसन्नता के लिये कौए तथा कछुए आदि की विचित्र कथा को कहता हूँ । राज-पुत्रों ने कहा—हे गुरू जी ! कहिये विष्णु शर्मा बोले–सुनिये, इस समय मित्र लाभ कहता हूँ जिसका यह प्रथम श्लोक हैं—

साधन रहित, धन हीन, बुद्धिमान मित्र लोग शीघ्र ही अपने कार्यों को कौए, कछुए, हिरन और चूहे की भाँति सिद्ध कर लेते हैं ॥२॥

राजपुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?'। विष्णुशर्मा कथयति,—

राज पुत्रों ने कहा—ये बात कैसे है ? विष्णु शर्मा कहते हैं अर्थात् कहने लगे।

कथा १

[काग, कछुआ, मृग और चूहे की कहानी १]

'अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः। तत्र नानादिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति। अथ कदाचिदवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडावलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि लघुपतनकनामा वायसः प्रबुद्धः कृतान्तमिव द्वितीयमायान्तं व्याधमपश्यत्। तमवलोक्याचिन्तयत्—'अद्य प्रातरेवानिष्टदर्शनं जातम्, न जाने किमनभिमतं दर्शयिष्यति।' इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः।
यतः,—

गोदावरी के किनारे एक विशाल सैंमर का पेड़ है। वहाँ अनेक दिशाओं से, देशों से आकर रात्रि में पक्षी निवास करते हैं। इसके बाद कभी रात्रि के शेष रहने पर और भगवान कुमुदिनी के के नायक चन्द्रमा ने अस्ताचल की चोटी की शरण ली तब लघुपतनक नामक कौआ जगा और सामने से दूसरे यमराज के समान एक बहेलिए को आते हुए देखा। उसे देख उसने सोचा आज प्रातः ही अनिष्ट दर्शन हुआ है (बुरे का मुँह देखा है), जानें क्या अनिष्ट होगा ? ऐसा कह कर उसके पीछे-पीछे व्याकुल होकर चल दिया।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥३॥

क्योंकि—हजारों शोक के स्थान (बातें) सैकड़ों भय की बातें दिन पर दिन मूर्खों को दु:ख देती हैं पण्डितों को नहीं ॥३॥

अन्यच्च, विषयिणामिदमवश्यं कर्तव्यम्,—

उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम् ।
मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति ॥४॥

और—विषयी लोगों को ये अवश्य करना चाहिये—नित्य प्रति प्रात: उठते ही ये जान लेना चाहिये कि महान भय आ गया है क्योंकि मरण, व्याधि और शोक इसमें से न जाने कौन सा आज आ जायेगा ॥४॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान्विकीर्य जालं विस्तीर्णम्। स च प्रच्छन्नो भूत्वा स्थित:। तस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराज: सपरिवारो वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुलकणानवलोकयामास। तत: कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान् कपोतान्प्रत्याह—'कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां संभव: ? तन्निरूप्यतां तावत्। भद्रमिदं न पश्यामि। प्रायेणानेन तण्डुलकणलोभेनास्माभिरपि तथा भवितव्यम्,—

इसके बाद उस बहेलिये ने चावलों के कणों को फैलाकर जाल फैला दिया और वह छिपकर बैठ गया। उसी समय चित्रग्रीव नामक कबूतरों के राजा ने सपरिवार (परिवार सहित) आकाश में उड़ते हुए उन चावलों की कनकी को देखा। फिर कबूतरों के राजा ने चावलों के लोभी कबूतरों से कहा—'इस निर्जन वन में चावलों की कनकी कहाँ से आई ? तो पहिले इसकी जाँच करो। मैं इसको कल्याणकारी नहीं देखता। प्राय: इन चावलों के कणों के लोभ में, हमारी भी वही गति हो सकती है जैसी कि—

कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे ।
वृद्धव्याघ्रेण संप्राप्तः पथिकः स मृतो यथा' ॥५॥

कपोता ऊचुः 'कथमेतत् ?' सोऽब्रवीत्—

जैसे, कंगन के लोभ से, गहरी कीचड़ में एक राहगीर फँस गया। उसे बूढ़े शेर ने मार डाला ॥५॥

कबूतर बोले—ये कथा कैसे है ! वह (चित्रग्रीव, कबूतरों का राजा) बोला—

कथा २

[स्वर्णकंकणधारी बाघ एवं पथिक की कथा]

'अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम् । एको वृद्धव्याघ्रः स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते—'भो भोः पान्थाः इदं सुवर्ण-कङ्कणं गृह्यताम् ।' ततो लोभाकृष्टेन केनचित्पान्थेनालोचितम्-भाग्येनैतत्संभवति । किंत्वस्मिन्नात्मसंदेहे प्रवृत्तिर्न विधेया —

(प्रस्तुत कथा विष्णु शर्मा राजकुमारों को सुना रहे हैं और कबूतरों का राजा चित्रग्रीव कबूतरों को सुना रहा है कि—)

एक बार मैं दक्षिण के बन में विचरण कर रहा तो मैंने देखा कि एक बूढ़ा बाघ स्नान करके, हाथ में कुशा लेकर, सरोवर के किनारे बैठा, बोल रहा था—अरे अरे रास्ता गीरों ! इस स्वर्ण कंकण को ले लो । तब लोभ के वशीभूत किसी राहगीर ने सोचा—भाग्य से ही ऐसा होता है । किन्तु इसमें आत्म सन्देह की भावना नहीं करनी चाहिये (ऐसा नहीं सोचना कि कहीं मर तो न जाऊँगा ।)

यत:—

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।
यत्रास्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥६॥

किंतु सर्वत्रार्थार्जने प्रवृत्तिः संदेह एव ।

क्योंकि—दुर्जन से मनोरथ पूर्ण भी हो जाय तो भी परिणाम अच्छा नहीं होता । जहाँ अमृत में विष का योग हो वहाँ भी वह मृत्यु का कारण हो जाता है ॥६॥ किन्तु धन के उपार्जन में सर्वत्र सन्देह होता ही है ।

तथा चोक्तम्—

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥७॥

जैसा कहा गया है—बिना सन्देहों में पड़े मनुष्य कल्याण को नहीं देखता और जो सन्देहों में पड़कर जो जीवित रहता है वह कल्याण को देखता है ॥७॥

तन्निरूपयामि तावत् ।' प्रकाशं ब्रूते—'कुत्र तव कङ्कणम् ?' व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति । पान्थोऽवदत्—'कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः ?' । व्याघ्र उवाच—'शृणु रे पान्थ ! प्रागेव यौवनदशायामतिदुर्वृत्त आसम् । अनेकगोमानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृता दाराश्च । वंशहीनश्चाहम् । ततः केनचिद्धार्मिकेणाहमादिष्टः—"दानधर्मादिकं चरतु भवान् ।" तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो दाता वृद्धो गलितनखदन्तो कथं न विश्वासभूमिः ?

अतः इसे प्रथम देखता हूँ । स्पष्ट कहता है—हे व्याघ्र ! तुम्हारा वह कंगन कहाँ है ? बाघ ने हाथ फैला कर दिखला दिया । पथिक ने कहा—मैं तुझ हिंसक का कैसे विश्वास करूँ ? व्याघ्र बोला-

अरे राहगीर सुन । पहले युवा वस्था में मैं बड़ा दुराचारी था, अनेक गौओं और मनुष्यों के मारने से मेरे स्त्री पुत्र मर गये । मैं वंश हीन हूँ । तब किसी धर्मात्मा ने मुझे उपदेश दिया कि—तुम दान धर्म करो ।' उसी के उपदेश से अब मैं स्नान करके, दानी, वृद्ध, मेरे नाक नाखून और दांत गल गये हैं फिर मैं विश्वास के योग्य क्यों नहीं हूँ ।

यतः,—

इज्याऽध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥८॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥९॥

क्योंकि यज्ञ करना, वेद पढ़ना, दान देना, तप करना, सत्य बोलना, धैर्य, क्षमा और लोभ न करना ये आठ धर्म के मार्ग कहे गये हैं ॥८॥ इनमें प्रथम चार तो पाखण्ड रचना के (वाह्य दिखावे के हेतु) लिये भी होते हैं, परन्तु पिछले चार तो केवल महात्माओं में ही होते हैं ॥९॥

मम चैतावांल्लोभविरहो येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मैचिद्दातुमिच्छामि । तथापि 'व्याघ्रो मानुषं खादति' इति लोकप्रवादो दुर्निवारः ॥

मुझे तो यहाँ तक लोभ नहीं है कि अपने हाथ का कंगक भी किसी को देना चाहता हूँ । फिर भी व्याघ्र मनुष्य को खा जाता है यह लोक निन्दा हटाई नहीं जा सकती ।

यतः,—

गतानुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम् ।
प्रमाणयति नो धर्मे यथा गोघ्नोमपि द्विजम् ॥१०॥

क्योंकि—संसार तो लकीर का फकीर है। कुट्टनी (चरित्र हीन स्त्री) हो और उपदेशक हो, धर्म में उसको प्रणाम नहीं मानते जैसा कि गौ हत्यारे ब्राह्मण का ॥१०॥

मया च धर्मशास्त्राण्यधीतानि । शृणु,—

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधार्ते भोजनं तथा ।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ! ॥११॥
प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥१२॥

मैंने तो धर्म शास्त्र भी पढ़े हैं। सुन—

हे पाण्डुनंदन (युधिष्ठिर) जैसे रेगिस्तान में वर्षा और भूखे को भोजन देना लाभ दायक है उसी प्रकार दरिद्री को दान देना भी लाभ दायक होता है (सफल होता है) ॥११॥ जैसे प्राण अपने को प्यारे होते हैं, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी होते हैं। अतः साधु लोग अपने प्राणों के समान ही दूसरों पर भी दया करते हैं ॥१२॥

अपरं च--

प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥१३॥

अन्यच्च,—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥१४॥

और भी—तिरस्कार में, दान में, सुख तथा दुःख में, प्रिय तथा अप्रिय में मनुष्य अपनी आत्मा के समान ही प्रमाण मानता है ॥१३॥ और—जो पर स्त्री को माता के समान, पराये धन को

मिट्टी के देले के समान और सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान जो देखता है, वह पण्डित है ॥१४॥

त्वं चातीव दुर्गतस्तेन तत्तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम् । तथा चोक्तम्—

दरिद्रान्भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधैः ? ॥१५॥

अन्यच्च,—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं विदुः ॥१६॥

तुम अत्यन्त निर्धन हो, इसी कारण मैं तुम्हें देने के लिये प्रयत्नशील है । जैसा कि कहा गया है—हे कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर ! दरिद्रियों (गरीबों) का पालन-पोषण करो । धन वान को धन मत दो क्योंकि रोगी को औषधि गुणकारी होती है और नीरोगी व्यक्ति को औषधियों से क्या ? (अर्थात् नीरोगी को औषधियों से—कोई लाभ नहीं) ॥१५॥ और—दिया जाने वाला दान यदि किसी अनुपकारी को(जिससे प्रति उपकार का सम्बन्ध न हो) दिया जाता है और उचित देश, काल और पात्र को दिया जाता है तो वह दान सात्विक कहलाता है ॥१६॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण ।' ततो यावदसौ तद्वचः-प्रतीतो लोभात्सरः स्नातुं प्रविशति तावन्महापङ्के निमग्नः पलायितुमक्षमः । पङ्के पतितं दृष्टवा व्याघ्रोऽवदत्—'अहह, महापङ्के पतितोऽसि । अतस्त्वामहमुत्थापयामि ।' इत्युक्त्वा शनैः शनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृतः, स पान्थोऽचिन्तयत्—

तो इस सरोवर में स्नान कर स्वर्ण कंकण को ले लो तब वह जब तक उसके वचनों का विश्वास कर, लोभ वश, स्नान के लिये सरोवर में घुसता है, वैसे ही भयंकर कीचड़ में फँस जाता है, और भागने में असमर्थ हो जाता है। पथिक को कीचड़ में फँसा देख, व्याघ्र बोला—अरे, रे, तुम तो गहरी कीचड़ में फँस गये हो। अतः मैं तुम्हें बाहर निकालता हूँ।" यह कह कर धीरे-धीरे उसके पास जाकर, उस व्याघ्र ने उसे पकड़ लिया। तब उस पथिक ने सोचा—

'न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः।
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥१७॥

दुष्ट व्यक्ति ने धर्म शास्त्र पढ़ा है या वेदाध्ययन किया है, ये कारण नहीं होता है वहाँ तो स्वभाव की ही विशेषता है जैसे गाय का दूध स्वभाव से ही मीठा होता है ॥१७॥

किंच,—

अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया।
दुर्भगाभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥१८॥

और, जिनकी इन्द्रियाँ एवं चित्त वश में नहीं हैं, उनके समस्त कार्य, ज्ञान, विना क्रिया के बोझ के समान हैं जैसे हाथी की स्नान क्रिया और विधवा का अलंकार धारण बेकार है ॥१८॥

तन्मया भद्रं न कृतं यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः। तथा ह्युक्तम्—

नदीनां शस्त्रपाणीनां नखिनां शृङ्गिणां तथा।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥१९॥

अपरं च,—

सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः ।
अतीत्य हि गुणान्सर्वान्स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥२०॥

तो मैंने ये अच्छा नहीं किया जो इस हिंसक का विश्वास कर लिया। जैसा कि कहा गया है—नदियों का, हाथ में शस्त्र धारण करने वालों का, नाखून वालों का और सींग वालों का, स्त्रियों का और राजकुल के लोगों का कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥१९॥ और दूसरे-मनुष्य को सबके स्वभाव की परीक्षा करनी चाहिये अन्य गुणों की नहीं। क्योंकि सभी गुणों को पार कर स्वभाव ही सबसे ऊपर होता है ॥२०॥

अन्यच्च,—

स हि गगनविहारी कल्मषध्वंसकारी
दशशतकरधारी ज्योतिषां मध्यचारी ।
विधुरपि विधियोगाद्ग्रस्यते राहुणासौ
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः ?' ॥२१॥

और—जो चन्द्रमा आकाश में विचरण करता है, अन्धकार को दूर करता है, हजारों किरणों को धारण करता है, नक्षत्रों के बीच में विचरण करता है, उस चन्द्रमा को भी भाग्य से राहु ग्रस लेता है। अतः जो कुछ भाग्य में विधाता ने लिख दिया है उसे कौन मिटा सकता है ? ॥२१॥

इति चिन्तयन्नेवासौ व्याघ्रेण व्यापादितः खादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—"कङ्कणस्य तु लोभेन" इत्यादि। अतः सर्वथाऽविचारितं कर्म न कर्तव्यम् ।

ऐसा उसके सोचते हुए ही उसे व्याघ्र ने मार डाला और खा

लिया। इसलिये मैं कहता हूँ-कंगन के लोभ में" इत्यादि। अतः बिना विचारे काम नहीं करना चाहिये।

यतः,—

'सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः।
सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्' ॥२२॥

क्योंकि—अच्छी प्रकार से पका हुआ अन्न, विद्वान बेटा, अच्छी प्रकार से शासित नारी, अच्छी प्रकार से सेवा किया गया राजा, अच्छी प्रकार विचार कर कहा गया वचन, और अच्छी प्रकार विचार कर किया गया कार्य, बहुत समय तक नहीं बिगड़ते ॥२२॥

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित्कपोतः सदर्पमाह—'आः, किमेवमुच्यते?
वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते।
सर्वत्रैवं विचारे तु भोजनेऽप्यप्रवर्तनम् ॥२३॥

इन वचनों को सुनकर किसी कबूतर ने अभिमान पूर्वक (अकड़-कर) कहा—अरे! ये तुम क्या कहते हो? जब आपत्तिकाल आये तब वृद्धों की बात माननी चाहिये लेकिन सभी जगह मानने से तो भोजन भी प्राप्त नहीं हो सकता ॥२३॥

यतः,—

शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा? ॥२४॥

ईर्ष्यी घृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः' ॥२५॥

क्योंकि—इस पृथ्वी पर अन्न-पान (जल) सभी जगह सन्देहों (शंकाओं) से भरा है। फिर किस वस्तु को खाने-पीने की इच्छा करे

और फिर कैसे जिये ॥२४॥ ईर्ष्या करने वाला, घृणा करने वाला, असन्तोष करने वाला, क्रोध करने वाला, सदा सन्देह करने वाला, नित्य पराये भाग्य पर जीने वाला (दूसरों के आश्रय पर रहने वाला) यह छै: प्रकार के मनुष्य सदैव दुःख पाते हैं ॥२५॥

एतच्छ्रुत्वा सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः ।

यतः,—

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः ।
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ॥२६॥

इसे सुनकर सभी कबूतर वहाँ बैठ गये । क्यों कि—अच्छे-अच्छे बड़े-बड़े शास्त्रों को पढ़ने वाले और सुनने वाले तथा सन्देहों को दूर करने वाले विद्वान लोग भी लोभ के वशीभूत होकर दुःख भोगते हैं ॥२६॥

अन्यच्च,—

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते ।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ॥२७॥

और दूसरे—लोभ से क्रोध पैदा होता है, लोभ से काम वासना उत्पन्न होती है, लोभ से मोह होता है, नाश होता है, अतः लोभ ही पाप की जड़ है ॥२७॥

अन्यच्च,—

असंभवं हेममृगस्य जन्म
तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥२८॥

और दूसरे—स्वर्ण मृग का होना असम्भव है फिर भी रामचन्द्र

जी उस स्वर्ण मृग पर लोभित हो गये। प्रायः विपत्ति काल के आने पर महापुरुषों की भी बुद्धि मलिन हो जाती है ॥२८॥

अनन्तरं सर्वे जालेन बद्धा बभूवुः। ततो यस्य वचनात्तत्रावलम्बितास्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति।

इसके उपरान्त सभी (कबूतर) जाल में बँध गये। फिर जिसके वचनों से, वहाँ उतरे थे, सभी उसका तिरस्कार करने लगे।

यतः,—

न गणस्याग्रतो गच्छेत्सिद्धे कार्ये समं फलम्।
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते' ॥२९॥

क्योंकि—गण के अगुआ होकर नहीं चलना चाहिये क्योंकि कार्य की सिद्धि होने पर सबको समान फल मिलता है। यदि काम विगड़ जाता है तो वहाँ मुखिया ही मारा जाता है ॥२९॥

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रग्रीव उवाच—'नायमस्य दोषः।

यतः,—

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम्।
मातृजंघा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने ॥३०॥

उसके तिरस्कार को सुनकर चित्रग्रीन ने कहा—'इसका दोष नहीं है। क्योंकि—हित कारक पदार्थ भी आने वाली विपत्तियों का कारण हो जाते हैं। जैसे गोदोहन के समय माता की जाँघ, बछड़े के बांधने का स्तंभ (खूँटा) हो जाती है ॥३०॥

अन्यच्च,—

स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः।
न तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः ॥३१॥

और दूसरे—बन्धु तो वह है जो आपत्तियों में पड़े मनुष्यों को

निकालने में समर्थ हो न कि दु:खितों की रक्षा करने के उपाय के बदले उलाहना देने वाला चतुर व्यक्ति।

विपत्काले विस्मय एव कापुरुषलक्षणम्। तदत्र धैर्यमवलम्ब्य प्रतीकारश्चिन्त्यताम्।

यत:,—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रम:।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥३२॥

विपत्ति काल में घबरा जाना तो कायरों का लक्षण है। अत: इस कार्य में धैर्य धारण कर उपाय सोचना चाहिये—क्योंकि-विपत्ति में धैर्य, उन्नति के समय क्षमा, सभा में वाणी की चतुरता, युद्ध में पराक्रम, यश में रुचि, शास्त्रों में अनुराग ये बातें महात्माओं में स्वभाव से ही होती हैं ॥३२॥

संपदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च धीरत्वम्।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥३३॥

अन्यच्च:,—

षड् दोषा: पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥३४॥

इदानीमप्येवं क्रियताम्। सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादायोड्डीयताम्।

जिसे सम्पत्ति के समय आनन्द, संकट में खेद, लड़ाई में भीरुता नहीं होती हैं, ऐसे तीनों लोकों के तिलक अर्थात् तीनों लोकों में अच्छे पुत्र को माता बहुत विरले ही जन्म देती है ॥३३॥ और भी—अपना हित चाहने वाले पुरुष को छ: चीजें छोड़ देनी चाहिये—नींद, सुस्ती,

डर, क्रोध, आलस्य एवं दीर्घ सूत्रता (टाल-मटोल, काम में देरी) ॥३४॥

इस समय ऐसा करना चाहिये। सबको एक चित्त होकर जाल को लेकर उड़ना चाहिये।

यतः,—

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥३५॥
संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि।
तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥३६॥

क्योंकि— छोटी वस्तुओं का एकत्र होना भी कार्य साधक होता है। जैसे रस्सी की अवस्था को प्राप्त तिनके भी मतवाले हाथी को बांध देते हैं ॥३५॥ अपना कुल छोटा होने पर भी मनुष्य को परस्पर सन्धि से लाभ होता है। भूसी निकला हुआ चावल नहीं उगा करता ॥३६॥

इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादायोत्पतिताः। अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालापहारकांस्तानवलोक्य पश्चाद्धावन्नचिन्तयत्–

ऐसा सोचकर सब पक्षी जाल लेकर उड़े। उसके अनन्तर वह बहेलिया बहुत दूर खड़े-खड़े उन पक्षियों को जाल ले जाते देखकर, उनके पीछे दौड़ता हुआ सोचने लगा—

'संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहंगमाः।
यदा तु निपतिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा' ॥३७॥

ये सब कबूतर मिलकर मेरे जाल को लिये जाते हैं लेकिन जब ये गिरेंगे तो मेरे वश में आजायेंगे ॥३७॥

ततंस्तेषु चक्षुर्विषयातिक्रान्तेष पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः।

अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्टवा कपोता ऊचुः—'किमिदानीं कर्तुमुचितम् ?'। चित्रग्रीव उवाच—

फिर जब वे पक्षी आंखों से न दीखने लगे तो व्याध लौट गया। तब उस बहेलिये को लौटते देखकर कबूतर बोले—इस समय क्या करना उचित है। चित्रग्रीव बोला—

'माता मित्रं पिता चेति स्वभावात्त्रितयं हितम्।
कार्यकारणतश्चान्ये भवन्ति हितबुद्धय, ॥३८॥

माता, मित्र और पिता ये तीनों स्वभाव से ही हितैषी होते हैं। अन्य लोग तो कार्य कारण से (अपने स्वार्थ से) हितैषी हो जाते हैं ॥३८॥

तदस्माकं मित्रं हिरण्यको नाम मूषकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति, सोऽस्माकं पाशांश्छेत्स्यति।' इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गताः। हिरण्यकश्च सर्वदाऽपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति। ततो हिरण्यकः कपोतावपातभयाच्चकितस्तूष्णीं स्थितः। चित्रग्रीव उवाच-'सखे हिरण्यक! किमस्मान्न संभाषसे ?'। ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय ससंभ्रमं बहिर्निःसृत्याब्रवीत्-'आः, पुण्यवानस्मि। प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः।

तो हमारा मित्र हिरण्यक नाम का चूहों का राजा गण्डकी नदी के तट पर चित्रवन में रहता है। वह हम लोगों के जाल (फन्दे) को काट देगा। ऐसा विचार कर सब हिरण्यक के बिल के पास गए। हिरण्यक भी हमेशा भय की शंका से सैकड़ों द्वार वाले बिल में रहता था। तब हिरण्यक कबूतरों के उतरने के भय के डर से चुपचाप बिल में बैठा रहा। चित्रग्रीव बोला—हे मित्र हिरण्यक! तुम हमसे क्यों

नहीं बोलते हो ? तब हिरण्यक उसके वचन को पहचान कर जल्दी से बाहर निकल कर बोला— अहा कैसा भाग्यवान हूँ। मेरा प्रिय मित्र चित्रग्रीव आया है।

यस्य मित्रेण संभावो यस्य मित्रेण संस्थितिः।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तीह पुण्यवान्' ॥३९॥

जिसकी मित्र के साथ वार्तालाप होती है, जिसका मित्र के साथ रहना होता है और मित्र के साथ जिसकी गुप्त बातचीत होती है, इस जगत में उससे अधिक पुण्यवान कोई नहीं है ॥३९॥

पाशबद्धांश्चैतान्दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वोवाच-'सखे ! किमेतत् ?'। चित्रग्रीवोऽवदत्-'सखे ! अस्माकं प्राक्तनजन्मकर्मणः फलमेतत्।

जाल में बंधे हुए उन्हें देखकर आश्चर्य से थोड़ी देर ठहर कर हिरण्यक बोला—मित्र यह क्या ! चित्रग्रीव ने कहा-मित्र ! यह हमारे पूर्व जन्म के कर्मों का फल है।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म।
तस्माच्च तेन च तथा च तथा च तच्च
तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥४०॥
रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च।
आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम्' ॥४१॥

जिसे और जिसके द्वारा और जिस प्रकार से और जब, जो और जितना और जहाँ पर शुभ या अशुभ कर्म होता है, उससे और उसके द्वारा और उस प्रकार से और उस समय वह और उतना वहीं भाग्य के जोर से पाता है ॥४०॥ रोग, शोक, पीड़ा, बन्धन और दुःख ये देह धारियों के अपने दोष रूपी वृक्षों के फल हैं ॥४१॥

तच्छ्रुत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति। चित्रग्रीव उवाच--'मित्र! मा मैवम्। अस्मदाश्रितानामेषां तावत्पाशांश्छिन्धि, तदा मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि।' हिरण्यकोऽप्याह---'अहमल्पशक्तिः, दन्ताश्च मे कोमलाः। तदेतेषां पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थः? तद्यावन्मे दन्ता न त्रुटयन्ति तावत्तव पाशं छिनद्मि। तदनन्तरमेषामपि बन्धनं यावच्छक्यं छेत्स्यामि'। चित्रग्रीव उवाच-'अस्त्वेवम्। तथापि यथाशक्त्येतेषां बन्धनं खण्डय'। हिरण्यकेनोक्तम्---'आत्मपरित्यागेन यदाश्रितानां परिरक्षणं तन्न नीतिविदां संमतम्।

यह सुनकर हिरण्यक चित्रग्रीव के बन्धनों को काटने के लिये शीघ्र आया। चित्रग्रीव बोला—हे मित्र! ऐसा नहीं। पहिले हमारे आश्रितों के बन्धनों को काटो तब फिर मेरे पाश (बन्धन) को काटना। हिरण्यक बोला—मैं बहुत थोड़ी शक्ति का हूँ। मेरे दांत कोमल हैं तो इसके बन्धन को काटने में किस प्रकार समर्थ हूं तो जब तब मेरे दांत नहीं टूटते तब तक मैं तुम्हारे जाल काटता हूँ। इनके बन्धन भी जहाँ तक हो सकेगा काटूँगा। चित्रग्रीव ने उत्तर दिया—यदि ऐसा ही है तो भी इनके पाश को अपनी सामर्थ्य के अनुसार काटो। हिरण्यक बोला-अपने जीवन को देकर जो आश्रितों की रक्षा करता है, उसको नीति शास्त्र के जानने वाले अच्छा नहीं समझते।

यतः,--

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥४२॥

अन्यच्च:,—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः।
तान्निघ्नता किं न हतं, रक्षता किं न रक्षितम्?' ॥४३॥

क्योंकि—विपत्ति काल के लिये धन की रक्षा करनी चाहिये और धन से स्त्री की रक्षा करनी चाहिये और अपनी रक्षा तो स्त्री और धन द्वारा सदैव करनी चाहिये ।।४२।। और दूसरे-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की स्थिति का कारण जीवन, (प्राण) हैं। उसके नष्ट करने वाले से क्या नहीं मारा गया और जिसने उसको बचाया उसने क्या नहीं बचाया अर्थात् सब कुछ बचाया ।।४३।।

चित्रग्रीव उवाच-'सखे ! नीतिस्तावदीदृश्येव । किं त्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढुं सर्वथाऽसमर्थः । तेनेदं ब्रवीमि ।

यतः,--

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति ।।४४।।

चित्रग्रीव बोला--हे मित्र ! नीति तो ऐसी ही है। किन्तु मैं अपने अधीनों की पीड़ा सहन करने में बिल्कुल असमर्थ हूँ। इसी कारण यह कहता हूँ—क्योंकि बुद्धिमान पराये के लिये धन और जीवन छोड़ देता है चूंकि इसका विनाश तो अवश्य ही होगा तो अच्छे कार्य में विनाश होना प्रशंसनीय है ।।४४।।

अयमपरश्चासाधारणो हेतुः--

जातिद्रव्यगुणानां च साम्यमेषां मया सह ।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद्भविष्यति ।।४५।।

यह दूसरा विशेष कारण है—हम और ये लोग जाति, द्रव्य और गुण में एक समान हैं तो कहो, मेरी प्रभुता का फल कब होगा, वह क्या होगा ? ।।४५।।

अन्यच्च,--

विना वर्तनमेवैते न त्यजन्ति ममान्तिकम् ।
तन्मे प्राणव्ययेनापि जीवयैतान्ममाश्रितान् ।।४६।।

किं च,—

मांसमूत्रपुरीषास्थिर्मितेऽस्मिन्कलेवरे ।
विनश्वरे विहायास्थां यशः पालयः मित्र ! मे ॥४७॥

और दूसरे—ये बिना वेतन के मेरा साथ नहीं छोड़ते (अर्थात् ये बिना किसी लोभ के मेरे पास रहते हैं) इसलिये मेरे प्राणों के बदले भी इन मेरे आश्रितों को जिलाओ ॥४६॥ और हे मित्र ! मांस, मूत्र, मल, हड्डी से बने इस विनाशी शरीर के लिये सम्मान त्याग कर मेरी कीर्ति की रक्षा करो ॥४७॥

अपरं च पश्य,—

यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना ।
यशः कायेन लभ्येत तन्न लब्धं भवेन्नु किम् ? ॥४८॥

यतः,—

शरीरस्य गुणानां च दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः' ॥४९॥

और भी देखो— यदि सदा न रहने वाले, मल पूर्ण शरीर से, सर्वदा रहने वाली निर्मल कीर्ति मिले तो क्या नहीं मिला ? अर्थात् सब कुछ मिल गया ॥४८॥ क्योंकि—शरीर तथा दया आदि गुणों के बीच में बहुत अन्तर है । क्योंकि, शरीर तो क्षणभंगूर है पर गुण कल्प के अन्त तक रहने वाले हैं अर्थात् चिर स्थायी हैं ॥४९॥

इत्याकर्ण्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः पुलकितः सन्नब्रवीत्—'साधु मित्र ! साधु । अनेनाश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते' । एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां बन्धनानि छिन्नानि । ततो हिरण्यकः सर्वान्सादरं संपूज्याह—'सखे चित्रग्रीव ! सर्वथात्र जालबन्धनविधौ दोषमाशङ्क्यात्मन्यवज्ञा न कर्तव्या ।

यह सुनकर हिरण्यक प्रसन्न चित्त और पुलकित होकर बोला—साधु मित्र साधु (धन्य हो, मित्र धन्य हो) तुम अपने इन आश्रितों पर इस प्रेम के कारण तीनों लोकों के स्वामी के पद के योग्य तुम हो। ऐसा कह कर उसने सबके बन्धनों को काट डाला। तब हिरण्यक उन सबका आदर सत्कार करके बोला—हे मित्र चित्रग्रीव ! अपने को जाल में फँसने का दोषी समझ कर अपने को अवमानित नहीं करना चाहिये।

यतः,—

योऽधिकाद्योजनशतात्पश्यतीहामिषं खगः।
स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति ॥५०॥

अपरं च,—

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजंगमयोरपि बन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः ॥५१॥

क्योंकि—जो पक्षी सौ योजन की दूरी से खाने की वस्तु को देख लेता है, वह भी मृत्यु काल के निकट आ जाने पर जाल को नहीं देखता है ॥५०॥ और दूसरे—चन्द्रमा और सूर्य का राहु द्वारा सताया जाना तथा हाथी और साँप का बाँधा जाना और बुद्धिमानों को गरीबी—इन सब चीजों को देखकर, मेरा यह विचार होता है कि ओ हो विधाता (प्रारब्ध) ही बलवान है ॥५१॥

अन्यच्च,—

व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः संप्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि।

दुर्नीतं किमिहास्ति, किं सुचरितं, कः स्थानलाभे गुणः ?
कालो हि व्यसन प्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि' ॥५२॥

और—आकाश के एकान्त स्थल में विहार करने वाले पक्षी भी कष्ट में पड़ जाते हैं और चतुर मल्लाह (धीवरों) द्वारा अथाह जल वाले समुद्र से भी मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। इस जगत में क्या दुष्ट रीति है ? और क्या पुण्य है ? और अनुकूल स्थान प्राप्त करने से क्या लाभ हैं ? अर्थात् कुछ नहीं। क्योंकि, काल विपत्ति रूपी अपने हाथों को फैला कर बैठा है और समय आने पर दूर से ही पकड़ लेता है ॥५२॥

इति प्रबोध्यातिथ्यं कृत्वालिङ्गय् च चित्रग्रीवस्तेन संप्रेषितो यथेष्टदेशान्सपरिवारो ययौ । हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः ।

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च ।
पश्य मूषकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धनाः ॥५३॥

इस प्रकार समझाकर एवं अतिथि सत्कार कर आलिंगन कर चित्रग्रीव को उसने विदा किया और वह परिवार सहित अपने देश को चला गया और हिरण्यक भी अपने बिल में घुस गया।

जो कोई भी हो, मनुष्य को सैकड़ों मित्र बनाने चाहिये देखो मूषक मित्र द्वारा कबूतरों के बन्धनों को काट डाला गया ॥५३॥

अथ लघुपतनकनामा काकः सर्ववृत्तान्तदर्शी साश्चर्यमिदमाह—'अहो हिरण्यक ! श्लाघ्योऽसि। अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीमिच्छामि, अतो वां मैत्र्येणानुग्रहीतुमर्हसि' । एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विवराभ्यन्तरादाह—'कस्त्वम् ?' । स ब्रूते—'लघु-

पतनकनामा वायसोऽहम्'। हिरण्यको विहस्याह—'का त्वया सह मैत्री ?

इसके बाद सब वृत्तान्त को जानने वाला लघुपतनक नामक कौआ आश्चर्य से बोला—अरे हिरण्यक। तुम प्रशंसा के योग्य हो। इसी कारण मैं तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ। इसलिये तुम मेरी मित्रता को ग्रहण करो। यह सुनकर फिर हिरण्यक बिल के भीतर से बोला—तुम कौन हो ? उसने उत्तर दिया—लघुपतनक नामक कौआ हूँ। हिरण्यक ने हँसकर कहा—तुम्हारे साथ मित्रता कैसी ?

यतः,—

यद्येन युज्यते लोके बुधस्तत्तेन योजयेत्।
अहमन्नं भवान् भोक्ता कथं प्रीतिर्भविष्यति ? ॥५४॥

अपरं च;—

भक्ष्य-भक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेरेव कारणम्।
शृगालात्पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः' ॥५५॥

वायसोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' हिरण्यकः कथयति—

क्योंकि—पंडित को चाहिय कि जो वस्तु संसार में जिस वस्तु के योग्य हो, उसको उसके साथ मिलाना चाहिये। मैं अन्न (भक्ष्य) हूँ और आप खाने वाले (भक्षक) हैं, तो भला भक्ष्य-भक्षक की प्रीति कैसे हो सकती है ? ॥५४॥ और दूसरे—भक्ष्य और भक्षक की प्रीति विपत्ति का कारण है। गीदड़ से जाल में बंधाया गया मृग, कौए के द्वारा बचाया गया था ॥५५॥

कौआ बोला—ये कथा कैसे है ? हिरण्यक कहने लगा—

कथा ३

[मृग, काग एवं धूर्त गीदड़ की कहानी]

"अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नामरण्यानी । तस्यां चिरान्महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः । स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन्हृष्टपुष्टाङ्गः केनचिच्छृगालेनावलोकितः । तंदृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—'आः, कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि ? भवतु, विश्वासं तावदुत्पादयामि ।' इत्यालोच्योपसृत्याब्रवीत्—'मित्र ! कुशलं ते ?' । मृगेणोक्तम्—'कस्त्वम् ?' । सब्रूते—'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम् । अत्रारण्ये बन्धुहीनो मृतवन्निवसामि । इदानीं त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुर्जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि । अधुना तवानुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम्' । मृगेणोक्तम्—'एवमस्तु' । ततः पश्चादस्तंगते सवितरि मरीचिमालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ । तत्र चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति । तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्—'सखे चित्राङ्ग ! कोऽयं द्वितीयः ?' मृगो ब्रूते—'जम्बूकोऽयम् । अस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः' । काको ब्रूते—'मित्र ! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता ।

मगध देश में चम्पकवती नाम का एक बड़ा भारी जंगल है। वहाँ एक हिरन और कौआ बहुत दिनों से अत्यन्त प्रेम के साथ रहते थे। और वह हिरन अपनी इच्छानुसार घूमता हुआ, प्रसन्न चित्त, मोटा-ताजा किसी सियार द्वारा देखा गया। उस हिरन को देखकर सियार ने सोचा—अरे, किस प्रकार इसके कोमल माँस का भक्षण करूँ ? जो हो, पहिले इसमें विश्वास उत्पन्न करता हूँ। ऐसा सोचकर, उसके पास जाकर बोला—'मित्र ! आप कुशल से तो हैं। हिरन

ने कहा—तुम कौन हो ? सियार ने कहा—मैं क्षुद्र बुद्धि नाम का गीदड़ हूँ। इस वन में मित्र–हीन मरा हुए के समान रहता हूँ। इस समय (अब) तुमको मित्र पाकर फिर सबन्धु (मित्रवान) होकर इस जगत में प्रवेश करता हूँ। अब मैं सदा तुम्हारा सेवक बन कर रहूँगा। हिरन ने कहा—अच्छा ऐसा ही हो। इसके बाद, भगवान सूर्य के अस्त हो जाने पर दोनों हिरन के निवास स्थान पर गये। वहाँ चम्पक वृक्ष की एक शाखा पर हिरन का परम मित्र सुबुद्धि नाम का कौआ रहता था। कौए ने इन दोनों को देखकर कहा—हे मित्र चित्रांग ! ये दूसरा कौन है ? हिरन ने कहा—ये सियार है। हमारे साथ मित्रता करने की इच्छा से आया है। कौए ने कहा—अचानक आये हुए के साथ मित्रता करना उचित नहीं है।

तथा चोक्तम्,—

अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः ॥५६॥

क्योंकि कहा गया है—जिसके कुल और स्वभाव का पता न हो उसे घर में कभी भी नहीं ठहराना चाहिये क्योंकि विलाव के अपराध के कारण एक बूढ़ा गिद्ध मारा गया ॥५६॥

तावाहतुः—'कथमेतत् ?'। काकः कथयति—

उन दोनों ने पूछा—ये कैसे ? कौआ कहने लगा—

कथा ४

[अन्धा गिद्ध, बिलाव और चिड़ियों की कहानी ४]

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान्पर्कटीवृक्षः। तस्य कोटरे दैवदुर्विपाकाद्गलितनखनयनो जरद्गवनामा गृध्रः

प्रतिवसति। अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः स्वाहारात्किंचित्किंचिदुद्धृत्य ददति। तेनासौ जीवति। अथ कदाचिद्दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिशावकान्भक्षितुं तत्रागतः। ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिशावकैर्भयार्तैः कोलाहलः कृतः। तच्छ्रुत्वा जरद्गवेनोक्तम्—'कोऽयमायाति ?'। दीर्घकर्णो गृध्रमवलोक्य सभयमाह—'हा, हतोऽस्मि'।

गंगा नदी के तट पर गृध्रकूट नाम के पर्वत पर एक बड़ा पाकड़ का वृक्ष है। उसके घोघले (खौंतर) में दुर्भाग्य से जरद्गव नामका एक बूढ़ा गिद्ध रहता था। जिसके नाखून व आंख गल गई थीं। दया के कारण उसके जीवन के लिये, उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षी अपने आहार में से कुछ-कुछ हिस्सा निकालकर उसको दे देते थे। उसी से वह गिद्ध जीता था। तदनन्तर कभी दीर्घकर्ण नामका एक बिलाव उन पक्षियों के बच्चों को खाने के लिये वहां आया। तब उसको वहां पर आता हुआ देख कर पक्षियों के बच्चे कोलाहल करने लगे। उसको सुनकर जकद्गव बोला—यह कौन आ रहा है ? दीर्घकर्ण (विलाव) गिद्ध को देख कर, डर कर बोला—हाय ! मैं मारा गया।

यतः,—

तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम्।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम् ॥५७॥

क्योंकि—भय से तभी तक डरना चाहिये जब तक कि वह आ न जाय। किन्तु भय को पास आया देख कर मनुष्य को यथा योग्य (यथोचित) करना चाहिये।

अधुनास्य संनिधाने पलायितुमक्षमः। तद्यथा भवितव्यं तद्भवतु। तावद्विश्वासमुत्पाद्यास्य समीपं गच्छामि।' इत्यालो-

च्योपसृत्याब्रवीत्—'आर्य ! त्वामभिवन्दे ।' गृध्रोऽवदत्—'कस्त्वम् ?' । सोऽवदत्—'मार्जारोऽहम्' । गृध्रो ब्रूते—'दूरमपसर । नो चेद्धन्तव्योऽसि मया' । मार्जारोऽवदत्—'श्रूयतां तावदस्मद्वचनम् । ततो यद्यहं वध्यस्तदा हन्तव्यः' ।

अब इसके पास से भागने में असमर्थ हूँ । तो जो हो सो हो । तो प्रथम विश्वास पैदा कर इसके पास जाऊँ । यह विचार कर, पास जाकर बोला—हे आर्य । मैं तुमको नमस्कार करता हूँ । गिद्ध बोला तू कौन है ? उसने कहा—"मैं विलाव हूँ ।" गिद्ध बोला दूर हट जा । नहीं तो मैं तुझे मार डालूँगा । बिलाव बोला—पहिले मेरी बात तो सुन लीजिये । तब यदि मैं मारने योग्य होऊँ तो मुझे मार डालिये ।

यतः,—

जातिमात्रेण किं कश्चिद्धन्यते पूज्यते क्कचित् ? ।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत् ॥५८॥

क्योंकि—केवल जाति से क्या कोई कहीं मारा जाता है या पूजा जाता है ? परन्तु व्यवहार को जानकर मारने अथवा पूजने के योग्य होता है ॥५८॥

गृध्रो ब्रूते—'ब्रूहि, किमर्थमागतोऽसि ?' । सोऽवदत्-'अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी निरामिषाशी ब्रह्मचारी चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि । 'यूयं धर्मज्ञानरता विश्वासभूमयः' इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाग्रे प्रस्तुवन्ति । अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः । भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञा यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः ।

गिद्ध बोला—कहो किस लिये आये हो ? उसने कहा—मैं यहाँ गंगा तट पर, नित्य स्नान कर, मांस का भक्षण न कर, ब्रह्मचर्य व्रत

का पालन करते हुए, चन्द्रायण व्रत करता हुआ रहता हूँ। आप धर्म और ज्ञान में लीन हैं और विश्वास पात्र है। यह बात सब पक्षी मेरे पास आकर सदा कहते हैं। आप विद्या में और उम्र में बड़े हैं इसलिये आपसे धर्म सुनने के लिये आया हूँ। और आप ऐसे धार्मिक हैं कि मुझ अतिथि को मारने के लिये उद्यत हैं।

गृहस्थधर्मश्चैष:—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते।
छेत्तु: पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुम: ॥५९॥

यदि वा धनं नास्ति तदा प्रीतिवचसाप्यतिथि: पूज्य एव।

परन्तु गृहस्थ धर्म तो यह है कि—अपने घर पर आये हुए शत्रु का भी उचित आदर सम्मान करना चाहिये वृक्ष अपने पास आये हुए, काटने वाले के पास से भी अपनी छाया को नहीं हटाता ॥५९॥

यदि पास में धन नहीं है तो भी मीठे वचनों से अतिथि का आदर सत्कार करना चाहिये।

यत:,—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥६०॥

अपरं च,—

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधव:।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मन: ॥६१॥

क्योंकि—कुशा का आसन, बैठने की भूमि, जल और चौथे सत्य एवं मीठी वाणी इनका सज्जनों के घर में कभी अभाव नहीं होता ॥६०॥ और दूसरे—सज्जन लोग गुण रहित जन्तुओं (प्राणियों)

पर भी दया करते हैं। जैसे, चन्द्रमा चाण्डाल के घर से अपनी चाँदनी को नहीं हटा लेता ॥६१॥

अन्यच्च,—

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥६२॥

अन्यच्च,—

उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः' ॥६३॥

और जिसके घर से अतिथि निराश होकर लौट जाता है वह अतिथि उसे अपने दुष्कर्म देकर और पुण्य लेकर चला जाता है ॥६२॥ और—उत्तम वर्ण वाले के घर यदि नीच भी अतिथि आये तो उसका यथा योग्य पूजन करना चाहिये अर्थात् सत्कार करना चाहिये। क्योंकि अतिथि सर्व देव मय हैं ॥६३॥

गृध्रोऽवदत्—'मार्जारो हि मांसरुचिः। पक्षिशावकाश्चात्र निवसन्ति। तेनाहमेवं ब्रवीमि।' तच्छ्रुत्वा मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति। ब्रूते च—'मया धर्मशास्त्रं श्रुत्वा वीतरागेणेदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणमध्यवसितम्। परस्परं विवदमानानामपि धर्मशास्त्राणाम् 'अहिंसा परमो धर्मः' इत्यत्रैकमत्यम्।

गिद्ध बोला—बिलाव की मांस में रुचि होती है। और यहाँ पक्षियों के छोटे-छोटे बच्चे रहते हैं। इसलिये मैं ऐसा कहता हूँ। इसे सुनकर उस बिलाव ने भूमि को छूकर, कानों को छुआ और बोला—मैंने धर्म शास्त्र को सुन कर और वैराग्य लेकर, इस कठिन चन्द्रायण व्रत को किया है। आपस में झगड़ने वाले धर्म शास्त्र भी, इस बात पर कि 'अहिंसा परम धर्म है' एक मत है।

यत:,—

सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥६४॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥६५॥

क्योंकि जो मनुष्य सब प्रकार के हिंसा से रहित हैं, जो सब सहते हैं और जो सबो के आश्रय हैं, वे स्वर्ग को जाते हैं ॥६४॥ धर्म ही एक मित्र है जो मरने पर भी साथ जाता है और सब चीजें तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है ॥६५॥

योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यतान्तरम् ।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते ॥६६॥
मर्तव्यमिति यद्दुःखं पुरुषस्योपजायते ।
शक्यते नानुमानेन परेण परिवर्णितुम् ॥६७॥

क्योंकि—जो खाता है और जिसका मांस खाया जाता है, उन दोनों (जीवों) का अन्तर देखो । एक की थोड़ी देर के लिये तृप्ति होती है और दूसरा प्राणों से रहित हो जाता है ॥६६॥ 'मरना अवश्य होगा । इस चिन्ता से मनुष्य को जो दुःख होता है वह दुःख केवल अनुमान से दूसरे लोग वर्णन नहीं कर सकते ॥६७॥

शृणु पुनः,—

स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते ।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात्पातकं महत् ? ॥६८॥

एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः ।

फिर सुनो—जो पेट, अपने आप वन में उत्पन्न हुए शाक भाजी से भर जाता है तो फिर इस दुष्ट पेट के लिये इतना बड़ा पाप कौन

करे ? ॥६८॥ इस प्रकार विश्वास पैदा कर वह बिलाव उस खौंतर में रहने लगा।

ततो दिनेषु गच्छत्सु पक्षिशावकानाक्रम्य कोटरमानीय प्रत्यहं खादति। येषामपत्यानि खादितानि तैः शोकार्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समारब्धा। तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य बहिः पलायितः। पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकास्थीनि प्राप्तानि। अनन्तरं त ऊचुः-"अनेनैव जरग्दवेनास्माकं शावकाः खादिताः" इति सर्वैं पक्षिभिर्निश्चिय गृध्रो व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—"अज्ञातकुलशीलस्य—" इत्यादि'॥ इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सकोपमाह—'मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवानप्यज्ञातकुलशील एव, तत्कथं भवता सहैतस्य स्नेहानुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्धते ?

इसके पश्चात् कुछ दिन बीतने पर वह पक्षियों के बच्चो को पकड़कर, खौंतर में लाकर खाता था। जिन पक्षियों के बच्चे खाये गये थे, शोक से व्याकुल हो, विलाप करते हुए, इधर-उधर ढूँढ़ने लगे। यह जानकर बिलाव खौंतर से निकल कर भाग गया। इसके बाद इधर-उधर खोजते हुए पक्षियों ने उस पेड़ की खौंतर में, बच्चों की हड्डियों को पाया। फिर उन्होंने कहा कि 'इस जरद्गव ने ही हमारे बच्चों को खा लिया है। ऐसा सभी पक्षियों ने निश्चय करके, उस बूढ़े गिद्ध को मार डाला। इसीलिये मैं कहता हूँ—'जिसका कुल स्वभाव इत्यादि। इसे सुनकर वह सियार क्रोध से बोला—मृग से प्रथम दर्शन के दिन तुम्हारा भी कुल और स्वभाव अपरिचित था। तो फिर आपके साथ इसका स्नेह दिन प्रति दिन क्यों अधिक होता गया।

एकदा निभृतं शृगालो ब्रूते—'सखे ! अस्मिन्वनैकदेशे सस्य-पूर्णक्षेत्रमस्ति । तदहं त्वां नीत्वा दर्शयामि ।' तथा कृते सति मृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति । अथ क्षेत्रपतिना तद्दृष्ट्वा पाशो योजितः । अनन्तरं पुनरागतो मृग पाशैर्बद्धोऽचिन्तयत्—'को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात्रातुं मित्रादन्यः समर्थः ?' अत्रान्तरे जम्बुकस्तत्रागत्योपस्थितोऽचिन्तयत्—'फलिता तावदस्माकं कपटप्रबन्धेन मनोरथसिद्धिः । एतस्योत्कृत्यमानस्य मांसासृग्लिप्तान्यस्थीनि मयावश्यं प्राप्तव्यानि । तानि बाहुल्येन भोजनानि भविष्यन्ति ।' मृगस्तं दृष्ट्वोल्लासितो ब्रूते—'सखे ! छिन्धि तावन्मम बन्धनम्, सत्वरं त्रायस्व माम् ।

एक दिन एकान्त में सियार ने कहा—मित्र मृग ! इसी वन में, एक दूसरे स्थान में अनाज से भरा हुआ खेत है, मैं तुम्हें ले चलकर उसे दिखलाता हूँ । वैसा करने पर वह मृग प्रतिदिन वहाँ जाकर अनाज खाने लगा । पश्चात खेत के स्वामी ने ये देखकर वहां जाल लगाया । उसके बाद यहाँ फिर आया हुआ मृग जाल में बंध गया और सोचने लगा—कौन मुझे यहाँ से काल पाश (यम के जाल) के समान, इस व्याध के जाल से, मित्र के अलावा कौन बचा सकता है ? इसी बीच सियार वहाँ आकर उपस्थित हुआ और सोचने लगा-हमारे छल प्रयोग से मनोरथ की सिद्धि हुई है । इसके काटे जाने पर मांस और रुधिर युक्त हड्डियां मुझे अवश्य मिलेंगी और मेरा अच्छी तरह भोजन होगा । हिरन उसे देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला-मित्र ! मेरे बन्धन काटो और मुझे शीघ्र बचाओ ।

यतः,—

आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरमृणे शुचिम् ।
भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान् ॥७२॥

यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि ।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ॥६९॥

अन्यच्च,—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥७०॥

जहाँ पर पण्डित नहीं हैं वहाँ पर थोड़ी बुद्धि वाला ही प्रशंसा योग्य है । जिसे देश में वृक्ष नहीं होता वहाँ अण्डी (एरण्ड) को ही पेड़ माना जाता है ॥६९॥ और दूसरे, यह अपना है, ये पराया है ये विचार ओछी बुद्धि वालों का है । उदार चरित वालों को तो ये पृथ्वी ही कुटुम्ब होती है ॥७०॥

यथायं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि' । मृगोऽब्रवीत्—'किमनेनोत्तरेण ? सर्वैरेकत्र विश्रम्भालापैः सुखिभिः स्थीयताम् ।

यतः,—

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः ।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा' ॥७१॥

काकेनोक्तम्—'एवमस्तु ।' अथ प्रातः सर्वे यथाभिमतदेशं गताः ।

जैसे ये मृग मेरा मित्र है वैसे ही तुम्हारा भी । हिरन बोला— इस उत्तर प्रत्युत्तर से क्या ? सब एक स्थान में, विश्वास पूर्ण संभाषण करके सुख से रहें क्योंकि—न तो कोई किसी का मित्र है, और न कोई किसी का शत्रु । केवल व्यवहार से मित्र और शत्रु बन जाते हैं ॥७१॥

कौवे ने (सुबिद्धि ने) कहा—ठीक है फिर प्रातः काल सब अपने-अपने निश्चित (मनमाने) स्थान पर चले गये ।

अपरं च,—

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः' ॥७३॥

विपत्ति में मित्र, युद्ध में वीर, कर्ज में ईमानदारी, निर्धनता में स्त्री और विपत्ति में बन्धुओं को जानना चाहिये ॥७२॥ और दूसरे–उत्सव में, विपत्ति में, अकाल में, राज्य में विप्लाव (उथल-पुथल) हो जाने पर, राजद्वार में और श्मशान में जो साथ देता है वह बन्धु है ॥७३॥

जम्बुको मुहुर्मुहुः पाशं विलोक्याचिन्तयत्—'दृढस्तावदयं बन्धः ।' ब्रूते च—'सखे ! स्नायुनिर्मिता एते पाशाः । तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान्दतैः स्पृशामि ? मित्र ! यदि चित्ते नान्यथा मन्यसे तदा प्रभाते यत्वया वक्तव्यं तत्कर्तव्यम् ।' इत्युक्त्वा तत्समीप आत्मानमाच्छाद्य स्थितः सः । अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमवलोक्येतस्ततोऽन्विष्य तथाविधं दृष्टवोवाच—'सखे ! किमेतत् ?' मृगेणोक्तम्–'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत् ।

सियार जाल को बार-बार देख कर सोचने लगा–ये फन्दा बहुत मजबूत है और बोला—मित्र ये जाल तांत का बना है । तो आज रविवार को इसे दांतों से कैसे छूऊं ? हे मित्र ! यदि बुरा न मानो तो प्रातः काल जो कहोगे, वही करूंगा । ऐसा कह कर, उसके पास ही, अपने को छिपा कर वह बैठ गया । इसके उपरान्त वह कौआ सायंकाल के समय मृग को नहीं आया देखकर, इधर-उधर ढूंढ़कर, उसको उस अवस्था में देखकर बोला–मित्र ! ये क्या है ? हिरन ने कहा—मित्र की बात न मानने का ये फल है ।

तथा चोक्तम्,—

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम् ।
विपत्संनिहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः' ॥७४॥

जैसा कहा है—हित चाहने वाले मित्रों की बात जो नहीं सुनता है, उसके पास (सर्वदाही) विपत्ति है और वह शत्रुओं का आनन्द बढ़ाने वाला है ॥७४॥

काको ब्रूते—'स वञ्चकः क्वास्ते ?' । मृगेणोक्तम्—'मन्मांसार्थी तिष्ठत्यत्रैव' । काको ब्रूते—'उक्तमेव मया पूर्वम्,—

कौआ बोला—वह धूर्त कहाँ है ? हिरन ने कहा—मेरे मांस का लोभी यहीं कहीं बैठा है । कौए ने कहा—मैंने तो पहिले ही कहा था ।

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम् ।
विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥७५॥
दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥७६॥

मेरा अपराध नहीं है, ये विश्वास का कारण नही है । गुणवानों को भी क्रूर जनों से भय रहता है ।७५। जिनकी आयु नष्ट हो जाती है अर्थात् जिनकी मृत्यु पास आ जाती है उन मनुष्यों को दिया बुझने की गन्ध नहीं आती, वे मित्रों के वचनों को नहीं सुनते और उन्हें अरुन्धती तारा नही दिखलाई देता ॥७६॥

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्' ॥७७॥

ततः काको दीर्घं निःश्वस्य 'अरे वञ्चक ! किं त्वया पापकर्मणा कृतम् ?

पीठ पीछे काम बिगाड़ने वाले एवं मुख पर मीठी-मीठी बातें

करने वाले मित्र को, मुख पर दूध वाले, विष के घड़े के समान त्याग देना चाहिये ॥७७॥

तब कौए ने लम्बी साँस भर कर कहा—अरे ठग ! तुझ पापी ने ये क्या किया ?

यत:,—

संलापितानां मधुरैर्वचोभि—
मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम् ।
आशावतां श्रद्दधतां च लोके
किमर्थिनां वञ्चयितव्यमस्ति ? ॥७८॥

क्योंकि—मधुर वचनों से संभाषण किये गये, मीठे-मीठे वचनों से वश में लाये हुए आशा और विश्वास करने वालों का, मांगने वालों का, ठगना क्या बड़ी बात है ? (अर्थात् कुछ नहीं, इन्हें तो आसानी से ठगा जा सकता है) ॥७८॥

उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमतौ य: समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसंधं भगवति वसुधे ! कथं वहसि ? ॥७९॥
दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।
उष्णो दहति चाङ्गार: शीत: कृष्णायते करम् ॥८०॥

हे भगवती पृथ्वी ! उपकार करने वाले, विश्वासी, और शुद्ध हृदय वाले के साथ पाप करने वाले और झूँठी प्रतिज्ञा वाले मनुष्यों को तू कैसे धारण करती है ? ॥७९॥ दुर्जन के साथ वैर न करे और प्रीति भी न करे । क्योंकि जलता हुआ कोयला हाथ को जलाता है और ठण्डा कोयला हाथ को काला कर देता है । (अर्थात् दुर्जनों की प्रीति-वैर से सज्जनों को ही हानि होती है) ॥८०॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम्,—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् ।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥८१॥

अथवा दुर्जनों का यही आचरण है (ये दुष्ट जनों का न स्वभाव है) मच्छर दुष्ट जनों के सभी काम करता है। प्रथम पाँव पर गिरता है (अर्थात् नमस्कार करता है) पीछे पीठ का मांस खाता है (चुगली करता है) फिर कान में विचित्र मधुर स्वर से धीरे-धीरे कुछ भिन-भिनाता है (खुशामद करता है) फिर छिद्र देख झट निर्भय हो घुस जाता है (दोष को जान कर, निडर होकर, उसका लाभ उठाता है) ॥८१॥

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम् ।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम्' ॥८२॥

दुष्ट मनुष्य का प्रियवादी होना ये उसके विश्वास का कारण नहीं है ? क्योंकि उसकी जिह्वा के अग्रभाग में मधु (शहद अथवा मधुर वचन) रहता है और हृदय में विष (कपट) रहता है ॥८२॥

अथ प्रभाते क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशमागच्छन् काकेनावलोकितः। तमालोक्य काकेनोक्तम्—'सखे मृग ! त्वमात्मानं मृतवत्संदर्श्य वातेनोदरं पूरयित्वा पादान्स्तब्धीकृत्य तिष्ठ। यदाहं शब्दं करोमि तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसि।' मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो मृग आलोकितः। 'आः, स्वयं मृतोऽसि' इत्युक्त्वा मृगं बन्धनान्मोचयित्वा पाशान्ग्रहीतुं सयत्नो बभूव। ततः काकशब्दं श्रुत्वा मृगः सत्वरमुत्थाय पलायितः। तमुद्दि-

थ तेन क्षेत्रपतिना क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो हतः ।

तदनन्तर प्रातः काल कौए ने उस खेत के स्वामी को हाथ में लाठी लिये हुए आते देखा । उसे देखकर कौए ने कहा—हे मित्र मृग ! तुम अपने मरा हुआ सा बना कर, पेट में हवा भर कर, पैरों को स्थिर करके, रहना । जिस समय मैं शब्द करूँ उस समय तुम झटपट उठकर भाग जाना । मृग ने वैसा ही किया जैसा कि कौए ने कहा था । तब खेत के स्वामी ने, प्रसन्न चित्त होकर, उस तरह (मरे हुए) मृग को देखा । अहा स्वयं ही मर गया ! ऐसा कह कर मृग को बन्धन से छुड़ाकर, जाल को सँभालने में लग गया । इसके बाद कौए के शब्द को सुन कर मृग झटपट उठकर भाग गया । उस मृग को लक्ष्य करके उस खेत के स्वामी ने ऐसी लकड़ी फेंकी (मारी) कि उस लकड़ी से वह सियार मर गया ।

तथा चोक्तम्,—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥ ८३ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—"भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः" इत्यादि' ॥

कहा भी है—प्राणी तीन वर्ष में, तीन माह में, तीन पक्ष में और तीन दिन में बड़े से बड़े पाप और पुण्य का फल यहीं पा लेता है ॥८३॥

इसीलिये मैं कहता हूँ—'भक्ष्य और भक्षक में प्रीति" इत्यादि ।

काकः पुनराह—

'भक्षितेनापि भवता नाहारो मम पुष्कलः ।
त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवानघ ! ॥८४॥

कौआ फिर बोला—तुझे खा लेने पर भी मेरा पूरा भोजन नहीं

होगा। हे अनघ (हे धर्मात्मा) तेरे जीवित रहने पर चित्रग्रीव के के समान मैं भी जीवित रहूँगा ॥८४॥

अन्यच्च,—

तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम् ।
सतां हि साधुशीलत्वात्स्वभावो न निवर्तते ॥८५॥

किंच,—

साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम् ।
न हि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया' ॥८६॥

पुण्यात्मा पशु पक्षियों का भी विश्वास देखा गया है। सज्जनों का स्वभाव नहीं बदलता क्योंकि प्रकृति से ही वे साधुशील होते हैं ॥८५॥ और—अत्यन्त क्रोध दिलाये जाने पर भी साधु का मन विकार को प्राप्त नहीं होता जैसे समुद्र का जल तिनकों की आँच से तपाया नहीं जा- सकता ॥८६॥

हिरण्यको ब्रूते—'चपलस्त्वम्। चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्तव्यः।

तथा चोक्तम्,—

मार्जारो महिषो मेषः काकः कापुरुषस्तथा ।
विश्वासात्प्रभवन्त्येते विश्वासस्तत्र नोचितः ॥८७॥

हिरण्यक बोला—तू चंचल है। चंचल के साथ कभी दोस्ती नहीं करनी चाहिये। कहा भी है कि—बिलाव, भैंसा, भेड़, काक एवं नीच आदमी विश्वास से ढीट हो जाते हैं, इसलिये इनमें विश्वास करना उचित नहीं ॥८७॥

किं चान्यत्, शत्रुपक्षो भवानस्माकम्।

उक्तं चैतत्,—

शत्रुणा न हि संदध्यात् सुश्लिष्टेनापि संधिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥८८॥

और दूसरे तुम मेरे बैरियों के पक्ष हो। और यह भी कहा गया है—अपने शत्रु के साथ अच्छी तरह सन्धि हो जाने पर भी, उससे मेल नहीं करना चाहिये। जैसे बहुत गर्म किया गया पानी भी आग को बुझा देता है ॥८८॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालंकृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ? ॥८९॥

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।
नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥९०॥

दुर्जन विद्या से अलंकृत हो फिर भी वह त्यागने योग्य है। क्योंकि रत्न से शोभायमान सर्प क्या भयंकर नहीं होता ॥८९॥ जो नहीं हो सकता वह हो ही नहीं सकता और जो जो हो सकता है वह अवश्य होगा। क्योंकि न जल में गाड़ी चल सकती है और न पृथ्वी पर नाव ॥९०॥

अपरं च,—

महताप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम्' ॥९१॥

और दूसरे—जो मनुष्य अधिक प्रयोजन से (या धनाधिक्य के कारण) शत्रुओं और प्रेम रहित स्त्रियों पर (या व्यभिचारिणी स्त्रियों पर) विश्वास करता है तो उसका जीवन वहीं तक है अर्थात् वह विश्वास ही उसकी मृत्यु का कारण हो जाता है ॥९१॥

लघुपतनको ब्रूते—'श्रुतं मया सर्वम्। तथापि मम चैतावान्संकल्पः—'त्वया सह सौहृद्यमवश्यं करणीयम्' इति। नो चेदनाहारेणात्मानं व्यापादयिष्यामि।

लघुपतनक कौआ बोला—मैंने सब सुन लिया तो भी इतना

मेरा संकल्प है कि तेरे साथ मित्रता अवश्य करनी चाहिये नहीं तो उपवास कर अपने आपको समाप्त कर लूँगा ।

तथा हि,--

मृद्घटवत् सुखभेद्यो दुःसंधानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद्दुर्भेद्यश्चाशु संधेयः ॥९२॥

दुर्जन मिट्टी के घड़े के समान आसानी से फूटने वाला, कष्ट से जुड़ने वाला होता है । सज्जन स्वर्ण के घड़े के समान मुश्किल से फूटने वाला और आसानी से जुड़ने वाला होता है ॥९२॥

किंच,—

द्रवत्वात्सर्वलोहानां निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां संगतं दर्शनात्सताम् ॥९३॥

समस्त धातुओं जैसे सोना, चांदी, लोहा आदि का मेल गलाने से या गलने योग्य होने के कारण हो जाता है। पशु–पक्षियों का मेल किसी निमित्त से (प्रयोजन से) होता है । मूर्खों का मेल भय से या लोभ से होता है, सज्जनों का मेल (केवल) दर्शन से होता है ॥९३॥

किंच,—

नारिकेलसमाकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः ।
अन्ये बदरिकाकारा बहिरेव मनोहराः ॥९४॥

सज्जन नारियल के समान दिखलाई देते हैं (बाहर देखने में रूखे, कुरूप) अन्य लोग (दुष्ट जन) बेर के समान बाहर से ही केवल सुन्दर होते हैं (उनके भीतर कठोर गुठली होती हैं) ॥९४॥

स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नायान्ति विक्रियाम् ।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः ॥९५॥

स्नेह टूट जाय तो भी सज्जनों के गुण में कोई विकार नहीं

आता जैसे कमल की डंडी के टूटने पर भी उसके तन्तु जुड़े रहते हैं ॥९५॥

अन्यच्च,—

शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः ।
दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥९६॥

और दूसरे—पवित्रता (या ईमानदारी,) निष्कपरता धन शीलता, वीरता, सुख दुःख में समानता, अनुकूलता, प्रीति और सत्यता ये मित्रों के गुण हैं ॥९६॥

एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत्प्राप्तव्यः ?' इत्यादि तद्वचनमाकार्य हिरण्यको बहिर्निःसृत्याह—'आप्यायितोऽहं भवतामनेन वचनामृतेन ।

इन गुणों से युक्त मित्र तुम्हारे अतिरिक्त मुझे दूसरा कौन मिल सकता है । उसकी ऐसी मीठी बातें सुनकर हिरण्यक बाहर निकल कर बोला—तुम्हारे वचन रूपी अमृत से मैं तृप्त हुआ ।

तथा चोक्तम्,—

घर्मार्तं न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली
न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।
प्रीत्या सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः
सद्युक्त्या च पुरस्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम् ॥९७॥

जैसा कहा है—धूप से तपे हुए पुरुष को न तो अत्यन्त शीतल जल का स्नान, न मोती की माला, न अंग प्रत्यंग में लगाया गया चंदन का लेप उतना सुख पहुंचाता है, जितना—पुण्यात्मा पुरुषों का आकर्षण मन्त्र के समान, प्रीति एवं उत्तम युक्तियों से युक्त सज्जन पुरुष की वाणी प्रायः चित्त के ऊपर प्रभाव डालती है ॥९७॥

अन्यच्च,—

रहस्यभेदो याञ्चा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम् ॥९८॥

अनेन वचनक्रमेण तदेकमपि दूषणं त्वयि न लक्ष्यते।

यतः,—

पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते।
अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणावगम्यते ॥९९॥

और दूसरे–गुप्त बात को प्रकट करना, धन आदि की याचना, निष्ठुरता, चित्त की चंचलता, क्रोध, कपट, झूठ, जूआ ये मित्र के दोष—हैं ॥९८॥ क्योंकि—चतुराई और सत्य वादिता तो बातों से ही प्रकट हो जाती है तथा अस्तब्धता (किसी एक बात पर कायम न रहना) ये तो प्रत्यक्ष ही मालूम पड़ जाते हैं ॥९९॥

अपरं च,—

अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छान्तरात्मनः।
प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥१००॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कार्यमन्यद्दुरात्मनाम्।
मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥१०१॥

निष्कपट चित्त वाले की मित्रता और ही तरह की होती है और जिसका हृदय शठता से दूषित होता है, उसकी बातें कुछ और ही प्रकार की हैं ॥१००॥ दुर्जनों के मन में कुछ, वचन में कुछ और काम में कुछ और ही होता है। पर महात्मा (सज्जन) के मन में, वचन में, कर्म में एक सी ही बात रहती है ॥१०१॥

तद्भवतु भवतोऽभिमतमेव।' इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं संतोष्य विवरं प्रविष्टः। वायसोऽपि स्व-

स्थानं गतः। ततः प्रभृति तयोरन्योन्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नै-र्विश्रम्भालापैश्च कालोऽतिवर्तते।

इस कारण जैसी तुम्हारी इच्छा, वैसा ही होगा। यह कह कर हिरण्यक ने कौए से मित्रता की उसे अनेक प्रकार के भोजन कराकर, सन्तुष्ट कर बिल में घुस गया। कौआ भी अपने स्थान को चला गया। इसके उपरान्त उन दोनों का समय परस्पर प्रीति भोज में, एक दूसरे की कुशलता की पूछताछ में और विश्वास की बात चीत में व्यतीत होता था।

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे ! कष्टतरलभ्या-हारमिदं स्थानं परित्यज्य स्थानान्तरं गन्तुमिच्छामि।' हिर-ण्यको ब्रूते—'मित्र ! क्व गन्तव्यम् ?

एक दिन लघुपतनक ने हिरण्यक से कहा—इस स्थान पर बड़ी कठिनाई से भोजन मिलता है अतः इस स्थान को छोड़कर, अन्य किसी स्थान पर जाना चाहता हूँ। हिरण्यक ने कहा—कहाँ जाओगे ?

तथा चोक्तम्,—

चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्।
नाऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्' ॥१०२॥

ऐसा कहा है कि बुद्धिमान एक पैर से चलता है और दूसरे से ठहरता है। अतः दूसरा स्थान बिना देखे प्रथम स्थान को नहीं त्यागना चाहिये ॥१०२॥

वायसो ब्रूते-'अस्ति सुनिरूपितस्थानम्।' हिरण्यकोऽवदत्-'किं तत् ?'। वायसो ब्रूते—'अस्ति दण्डकारण्ये कर्पूरगौरा-भिधानं सरः। तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराभि-धानः कच्छपो धार्मिकः प्रतिवसति।

कौआ बोला—एक अच्छी प्रकार से देखा हुआ स्थान है। हिरण्यक बोला—कौन सा है? कौए ने कहा—दंडकवन में कर्पूरगौर नाम का एक सरोवर है। वहाँ मेरा बहुत पुराना, प्रिय मित्र, धार्मिक मन्थर नामक कछुआ रहता है।

यतः,—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः ॥१०३॥

क्योंकि—दूसरों को उपदेश देना सभी मनुष्यों को सहज है परन्तु स्वयं धर्म का पालन विरले ही महात्मा करते है ॥१०३॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्धयिष्यति।' हिरण्यकोऽप्याह—'तत्किमत्रावस्थाय मया कर्तव्यम्?

यतः,—

यस्मिन्देशे न संमानो न वृत्तिर्न च बान्धवः।
न च विद्यागमः कश्चित्तं देशं परिवर्जयेत् ॥१०४॥

और वह विविध प्रकार के भोजनों से हमारा सत्कार करेगा। हिरण्यक ने भी कहा—तो फिर मैं ही यहाँ रह कर क्या करूँगा? क्योंकि—जिस देश में सम्मान न हो, जहाँ जीविका का साधन न हो जहाँ भाई-बन्धु न हो, और न विद्योपार्जन की व्यवस्था हो तो मनुष्य को ऐसे देश में नहीं रहना चाहिये ॥१०४॥

अपरं च,—

लोकयात्राऽभयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात्तत्र संस्थितिम् ॥१०५॥

तत्र मित्र! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम्।
ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी ॥१०६॥

और दूसरे—जीविका, अभय, लज्जा, सज्जनता एवं उदारता ये पाँच बातें जहाँ न हों वहाँ नहीं रहना चाहिये ॥१०५॥ हे मित्र ! जहाँ ये चार न हों वहाँ नहीं रहना चाहिये—ऋण देने वाला, वैद्य, वेदपाठी और सुन्दर जल से भरी नदी ॥१०६॥

ततो मामपि तत्र नय।' अथ वायसस्तत्र तेन मित्रेण सह विचित्रालापैः सुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ। ततो मन्थरो दूरादवलोक्य लघुपतनकस्य यथोचितमातिथ्यं विधाय मूषकस्यातिथिसत्कारं चकार।

तो मुझे भी वहीं ले चलो। इसके बाद कौआ वहाँ उस मित्र के साथ अनेक प्रकार की बातें करता हुआ। सुख पूर्वक उस सरोवर के पास पहुँचा। फिर मन्थर ने उसे दूर से ही देख कर, लघुपतनक का यथोचित आतिथ्य सत्कार करके, मूसे का भी अतिथि सत्कार किया।

यतः,—

बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः।
तस्य पूजा विधातव्या सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥१०७॥

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥१०८॥

क्योंकि—बालक हो अथवा वृद्ध हो या युवा हो, इनमें जो कोई भी घर पर आया हो उसका सत्कार अवश्य करना चाहिये क्योंकि अभ्यागत (अतिथि) सबका (चारों वर्णों का) गुरु (पूज्य) होता है ॥१०७॥ अग्नि द्विजातियों का गुरु होता है, चारों वर्णों का ब्राह्मण गुरु होता है, स्त्रियों का पति गुरु होता है तथा सबका गुरु अभ्यागत होता है ॥१०८॥

वायसोऽवदत्—'सखे मन्थर ! सविशेषपूजामस्मै विधेहि । यतोऽयं पुण्यकर्मणा धुरीणः कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूषिकराजः । एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनापि सर्पराजो न कदाचित्कथयितुं समर्थः स्यात् ।' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान् । मन्थरः सादरं हिरण्यकं संपूज्याह—'भद्र ! आत्मनो निर्जनवनागमनकारणमाख्यातुमर्हसि ।' हिरण्यकोऽवदत्–'कथयामि । श्रूयताम्,–

कौआ बोला–हे मित्र मन्दर । इसका अधिक सत्कार करो । क्योंकि यह पुण्यात्माओं का मुखिया, करुणा का समुद्र हिरण्यक नामक चूहों का राजा है । इसके गुणों का वर्णन दो हजार जिह्वाओं से शेष नाग भी शायद ही कहने में समर्थ हों । ऐसा कहकर चित्रग्रीव का वृत्तान्त कह सुनाया । मन्थर ने आदर पूर्वक हिरण्यक की पूजा करके कहा–हे भद्र ! इस निर्जन वन में अपने आने का कारण तो कहो । हिरण्यक ने कहा–कहता हूं । सुनो—

कथा ५

[सन्यासी एवं धनिक चूहे की कथा]

अस्ति चम्पकाभिधानायां नगर्यां परिव्राजकावसथः । तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राट् प्रतिवसति । स च भोजनावशिष्टभिक्षान्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति । अहं च तदन्नमुत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि । अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद्वीणाकर्णो नामपरिव्राजकः समायातः । तेन सह कथाप्रसङ्गावस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत् । वीणाकर्ण उवाच—'सखे ! किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान् ?' चूडाकर्णेनोक्तम्—'मित्र ! नाहं विरक्तः । किंतु

पश्यायं मूषिको ममापकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति ।' वीणाकर्णो नागदन्तकं विलोक्याह–'कथं मूषिकः स्वल्पबलोऽप्येतापद्दूरमुत्पतति ? तदत्र केनापि कारणेन भवितव्यम् ।

चम्पक नामक नगरी में सन्यासियों का एक मठ (स्थान) है । वहाँ चूड़ाकर्ण नामक एक सन्यासी रहता है । और वह भोजन से बचे हुए भिक्षान्न सहित भिक्षा पात्र को खूँटी पर टांक कर सोता था । और मैं उस अन्न को उछल-उछल कर नित्य प्रातः खा जाया करता था । इसके कुछ समय बाद उसका प्रिय मित्र वीणाकर्ण नामक सन्यासी आया । चूड़ाकर्ण ने उसके साथ बात चीत करते हुए, मुझे डराने को एक बांस का टुकड़ा पृथ्वी पर मारा । वीणाकर्ण ने कहा—मित्र ये क्या बात है कि आप मेरी बात में अनमने (अन्य मनस्क) हैं और दूसरी बात में दत्तचित्त हैं । चूड़ाकर्ण ने कहा—मित्र ! मेरा चित्त दूसरी ओर नहीं है किन्तु देखो, मेरी हानि करने वाला ये चूहा सदा मेरे भिक्षान्न को उछल-उछल कर खा जाता है ।' वीणाकर्ण ने खूँटी की ओर देख कर, कहा—यह दुबला पतला चूहा कैसे इतने ऊपर उछलता है ? इसमें कोई कारण अवश्य होना चाहिये ।

तथा चोक्तम्—

अकस्माद्युवती वृद्धं केशेष्वाकृष्य चुम्बति ।
पतिं निर्दयमालिङ्ग्य हेतुरत्र भविष्यति' ॥१०९॥

चूडाकर्णः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । वीणाकर्णः कथयति—

जैसा कि कहा गया है—अचानक एक युवा स्त्री ने, केश पकड़कर और प्रेम से आलिंगन करके अपने बूढ़े पति का मुख चुम्बन किया । इसमें भी कोई कारण होगा ? ॥१०९॥

चूड़ाकर्ण ने पूछा—ये बात कैसे है ? वीणाकर्ण ने कहा—

कथा ६

[वृद्ध वणिक एवं उसकी व्यभिचारिणी पत्नी की कथा]

अस्ति गौडीये कौशाम्बी नाम नगरी। तस्यां चन्दनदास-नामा वणिग्महाधनो निवसति। तेन पश्चिमे वयसि वर्तमानेन कामाधिष्ठितचेतसा धनदर्पाल्लीलावती नाम वणिक्पुत्री परिणीता। सा च मकरकेतोर्विजयवैजयन्तीव यौवनवती बभूव। स च वृद्धपतिस्तस्याः संतोषाय नाभवत्।

गौड़ देश में कौशाम्बी नामक एक नगरी है। वहां चन्दन दास नाम का एक धनाठय वैश्य रहता था। उसने बुढ़ापे में कामातुर हो, धन के मद से, लीलावती नामकी बनिये की बेटी से विवाह कर लिया। और वह लीलावती काम देव की विजय पताका के समान यौवन संपन्ना हुई और वह बूढ़ा पति उसके सन्तोष के लिये समर्थ न था।

यतः,—

शशिनीव हिमार्तानां घर्मार्तानां रवाविव।
मनो न रमते स्त्रीणां जराजीर्णेन्द्रिये पतौ ॥११०॥

अन्यच्च,—

पतितेषु हि दृष्टेषु पुंसः का नाम कामिता ?।
भैषज्यमिव मन्यन्ते यदन्यमनसः स्त्रियः ॥१११॥

स च वृद्धपतिस्तस्यामतीवानुरागवान्।

क्योंकि—जैसे पाले से मारे हुए, हिम से पीड़ित का मन चन्द्रमा में, धूप से पीड़ित का मन सूर्य में नहीं लगता वैसे ही स्त्रियों

का मन शिथिल इन्द्रियों वाले पति में नहीं लगता ॥११०॥ और दूसरे-सौन्दर्य के समाप्त हो जाने पर (अथवा बालों को झड़ जाने पर) मनुष्य में काम की योग्यता कहां ? जिन स्त्रियों का मन अन्य पुरुष में लग रहा है वे तो पति को पानी के समान (या औषधि के समान) हैं ॥१११॥ वह वृद्ध पति उस पर अत्यन्त आसक्त था ।

यतः,—

धनाशा जीविताशा च गुर्वी प्राणभृतां सदा ।
वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥११२॥
नोपभोक्तुं न च त्यक्तुं शक्नोति विषयाञ्जरी ।
अस्थि निर्दशनः श्वेव जिह्वया लेढि केवलम् ॥११३॥

क्योंकि—प्राणियों में धन की और जीने की आशा प्रबल होती है पर वृद्ध को एक युवा स्त्री अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय होती है ॥११२॥ विषयांजरी यानी बूढ़ा आदमी न तो विषयों को भोग सकता है और न त्याग ही कर सकता है) जैसे बिना दाँतों का कुत्ता हड्डी को चबा नहीं सकता है केवल जीभ से चाटता है ॥११३॥

अथ सा लीलावती यौवनदर्पादतिक्रान्तकुलमर्यादा केनापि वणिक्पुत्रेण सहानुरागवती बभूव ।

इसके उपरान्त वह लीलावती युवावस्था के घमण्ड के कारण, कुल की मर्यादा का उल्लंघन कर, किसी बनिये के लड़के से प्रेम करने लगी ।

यतः,

स्वातन्त्र्यं पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे संगति-
गोष्ठी पूरुषसंनिधावनियमो यासो विदेशे तथा ।
संसर्गः सह पुश्चलीभिरसकृद्वृत्तेर्निजायाः क्षतिः
पत्युर्वार्धिकमीर्षितं प्रवसनं नाशस्य हेतुः स्त्रियः ॥११४॥

क्योंकि—स्वतंत्रता, पिता के घर में रहना, यात्रा आदि उत्सव में पुरुषों से मिलना, पुरुषों के साथ वार्तालाप, नियम में न रहना, परदेश में रहना, व्यभिचारिणी स्त्रियों के साथ रहना, बार-बार अपने चरित्र की (व्यवहार की) हानि, पति का बूढ़ा होना, पति से द्रोह करना अथवा स्वामी का परदेश में रहना ये स्त्रियों के नाश के कारण हैं ॥११४॥

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नश्चान्यगृहे वासो नारीणां दूषणानि षट् ॥११५॥

और दूसरे—१- मद्यपान करना, २- दुष्ट जनों का साथ, ३- स्वामी से वियोग होना, ४- इधर उधर घूमना, ५- स्वप्न में अन्य पुरुष को देखना, और ६- दूसरों के घर में रहना ये स्त्रियों के छैः दोष हैं ॥११५॥

स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ।
तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥११६॥

हे नारद ! स्थान नहीं है, क्षण (अवसर) नहीं है और चाहने वाला पुरुष नहीं मिलता या प्रार्थना करने वाला मनुष्य नहीं है इसी कारण स्त्रियों का सतीत्व रक्षित है ॥११६॥

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वापि न विद्यते ।
गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम् ॥११७॥

स्त्रियों को न कोई अप्रिय है न कोई प्रिय है। जैसे गायें वन में नई नई दूब चाहती हैं, उसी तरह स्त्रियाँ नये नये पुरुष चाहती हैं ॥११७॥

घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।
तस्माद्घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद्बुधः ॥११८॥

और भी—नारी घी के भरे हुए घड़े के समान है और पुरुष जलते हुए अंगारे के समान होता है। इसलिये बुद्धिमान को चाहिये कि घी और अग्नि को पास-पास न रहने दें ॥११८॥

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नो विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥११९॥

पुरुष को माता, बहिन और बेटी इनके पास भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिये क्योंकि इन्द्रियां बलवान होती हैं ये विद्वान को भी वश में कर लेती है ॥११९॥

न लज्जा न विनीतत्वं न दाक्षिण्यं न भीरुता।
प्रार्थनाभाव एवैकं सतीत्वे कारणं स्त्रियाः ॥१२०॥

न लज्जा, न विनय, न शिष्टता, न डर स्त्रियों के पतिव्रत का कारण है पर प्रार्थना का न होना (पर पुरुष से संभोग की प्रार्थना का न होना) ही उनके सतीत्व का कारण हैं ॥१२०॥

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥१२१॥

बचपन में पिता जवानी में पति और बुढ़ापे में पुत्र स्त्री की रक्षा करता है। स्त्री का स्वाधीन होना कभी ठीक नहीं ॥१२१॥

एकदा सा लीलावती रत्नावलीकिरणकर्बुरे पर्यङ्के तेन वणिक्पुत्रेण सह विश्रम्भालापैः सुखासीना तमलक्षितोपस्थितं पतिमवलोक्य सहसोत्थाय केशेष्वाकृष्य गाढमालिङ्ग्य चुम्बितवती। तेनावसरेण जारश्च पलायितः।

एक दिन वह लीलावती (पति की अनुपस्थिति में) रत्नों के समूह की किरणों से चित्र पलंग पर उस वैश्य पुत्र के साथ विश्वास पूर्वक बात चीत करती हुई, सुख से बैठी हुई थी। इतने में यकायक

आये हुए अपने पति को देखकर, झट पट उठकर, केश पकड़कर, गाढ़ आलिंगन कर, उसका चुम्बन लेने लगी। इसी बीच में जार (उसका चाहने वाला) भाग गया।

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः।
स्वभावेनैव तच्छास्त्रं स्त्रीबुद्धौ सुप्रतिष्ठितम् ॥१२२॥

कहा गया है—जिस शास्त्र को शुक्राचार्य जानते हैं, और जिस शास्त्र को वृहस्पति जानते हैं वह शास्त्र नारी की बुद्धि में स्वभाव ही से रहता है ॥१२२॥

तदालिङ्गनमवलोक्य समीपवर्तिनी कुट्टन्यचिन्त्यत्—'अकस्मादियमेनमुपगूढवती' इति ततस्तया कुटन्या तत्कारणं परिज्ञाय सा लीलावती गुप्तेन दण्डिता: अतोऽहं ब्रवीमि—"अकस्माद्युवती वृद्धम्" इत्यादि। मूषिकबलोपष्टम्भेन केनापि कारणेनात्र भवितव्यम्।' क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्—'कारणं चात्र धनवाहुल्यमेव भविष्यति।

उसके आलिगन को देख निकट वर्तिनी कुट्टनी ने मन में विचार किया बिना कारण ये युवती इस बूढ़े से क्यो लिपटी हैं, तब उस कुटनी को उसका आलिगन का कारण ज्ञात होने पर, उस लीलावती ने उसको गुप्त दण्ड दिया। (अर्थात् उसे गुप्त रूप से धन देकर उसका मुँह वन्द कर दिया)। इसी कारण मैं कहता हूँ 'अचानक युवती का वृद्ध से लिपटना आदि यहाँ चूहे के बल के अहंकार का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिये। थोड़ी देर-विचार कर सन्यासी ने कहा—यहाँ धन का आधिक्य इसका कारण प्रतीत होता है।

धनवान् बलवाँल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते' ॥१२३॥

क्योंकि—संसार में सब देश और काल में धनी ही वली होते हैं। राजाओं की प्रभुता का मूल भी धन ही है ॥१२३॥

ततः खनित्रमादाय तेन विवरं खनित्वा चिरसंचितं मम धनं गृहीतम् । ततः प्रभृति निजशक्तिहीनः सत्वोत्साहरहितः स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः सत्रासं मन्दं मन्दमुपसर्पंश्चूडाकर्णेनावलोकितः ।

तब कुदाली लाकर उस सन्यासी ने बिल खोद कर, चिरकाल से संचित मेरा धन ले लिया । तब से शक्ति से हीन, पराक्रम और उत्साह से रहित, अपना भोजन उपार्जन करने में असमर्थ, भय से धीरे धीरे चलते हुए मुझे चूड़ाकर्ण ने देखा ।

धनेन बलवाँल्लोके धनाद्भवति पण्डितः ।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥१२४॥
अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥१२५॥

तब उसने कहा—इस संसार में मनुष्य धन से ही बली और धन से ही पण्डित माना जाता है । इस पापी चूहे को देखो, (धनहीन होने से) अपनी जाति के समान ही हो गया है ॥१२४॥ अल्प बुद्धि वाले, धन से हीन मनुष्य के सभी कार्य बिगड़ जाते हैं जैसे ग्रीष्म ऋतु में छोटी नदियाँ (सूख कर बिगड़ जाती है) ॥१२५॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स हि पण्डितः ॥१२६॥
अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ॥१२७॥

और, संसार में जिसके पास धन है उसी के सब मित्र हैं, जिसके पास धन हैं उसी के सब बन्धु हैं । जिसके पास धन है वही महान पुरुष है और जिसके पास धन हैं वही बड़ा पण्डित है ॥१२६॥ जिसके पुत्र नहीं है, जिसका सच्चा मित्र नहीं है उसका घर सूना हैं ।

मूर्ख के लिए सब दिशायें सूनी हैं तथा धन हीन के लिये सब कुछ सूना है ॥१२७॥

दारिद्र्यान्मरणाद्वापि दारिद्र्यमवरं स्मृतम् ।
अल्पक्लेशेन मरणं दारिद्र्यमतिदुःसहम् ॥१२८॥

और भी—दरिद्रता और मृत्यु इन दोनों में से दरिद्रता बुरी कही गई है। मरना तो थोड़े क्लेश से होता है और दरिद्रता का दुःख तो असह्य होता है ॥१२८॥

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्' ॥१२९॥

और दूसरे—वे ही सब विकार रहित इन्द्रियाँ हैं। नाम वही है, वही निर्मल बुद्धि है, वही वाणी है, वचन है। परन्तु धन की उष्णता से रहित (धना भाव के कारण) वही मनुष्य क्षण भर में कुछ का कुछ हो जाता है। यही विचित्र, आश्चर्य जनक बात है ॥१२९॥

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयालोचितम्-ममात्रावस्थानमयुक्तमिदानीम् । यच्चान्यस्मै एतद्वृत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम् ।

इस सब बात को सुन कर मैंने सोचा कि मेरा यहाँ रहना ठीक नहीं है। और दूसरे से भी इस वृत्तान्त को कहना उचित नहीं है।

अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं चापमानं च मतिमान्न प्रकाशयेत् ॥१३०॥

क्योंकि, बुद्धिमान पुरुष कभी इन बातों को प्रकाशित न करे—

अपने धन का नाश, मन का सन्ताप, घर का दुराचार, ठगा जाना और अपना अपमान ॥१३०॥

आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम् ।
तपो दानापमानं च नव गोप्यानि यत्नतः ॥१३१॥

और भी—आयु, वित्त, घर का भेद (दोष), मन्त्र, मैथुन, औषधि, तप, दान और अपमान इन नौ बातों को यत्न से गुप्त रखना चाहिये ॥१३१॥

अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थे यत्ने च पौरुषे ।
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत्कुतः सुखम् ? ॥१३२॥

और कहा भी है—भाग्य के अत्यन्त विमुख होने पर तथा यत्न और पौरूष के विफल होने पर, सज्जन निर्धनी पुरुषों को वन के अतिरिक्त कहीं सुख नहीं ॥१३२॥

मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।
अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् ॥१३३॥

और दूसरे—उदार पुरुष (स्वाभिमानी) अपनी इच्छानुसार मर जाय पर कृपणता (तुच्छकार्य) नहीं करता। अग्नि चाहे बुझ भले ही जाय परन्तु ठण्डी नहीं होती ॥१३३॥

कुसुमस्तबकस्येव द्वे वृत्ती तु मनस्विनः ।
सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा ॥१३४॥
यच्चात्रैव याच्ञया जीवनं तदतीव गर्हितम् ।

और—स्वाभिमानी पुरुष की फूल के गुच्छे के समान दो गति होती हैं। या तो वह फूल सबके सिर पर रहता है या वन में ही कुम्हला जाता है (नष्ट हो जाता है मर जाता है) ॥१३४॥ यहाँ पर भिक्षा द्वारा जीवन बिताना अत्यन्त निन्दित है ।

वरं विभवहीनेन प्राणैः संतर्पितोऽनलः ।
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थितो जनः ॥१३५॥

क्योंकि—धन हीन मनुष्य को स्व प्राणों को अग्नि की भेंट करदे वह अच्छा है परन्तु सौजन्यता से रहित कृपण से याचना करना ठीक नहीं ॥१३५॥

दारिद्र्याद्धि्रयमेति ह्रीपरिगतः सत्त्वात्परिभ्रश्यते
निःसत्वः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्णः शुचमेति शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ॥१३६॥

निर्धनता से मनुष्य में लज्जा आती है, लज्जा से पराक्रम नष्ट हो जाता है, पराक्रम के अभाव में अनादर होता है, अनादर से अत्यन्त दुःख होता है, दुःख से शोक होता है, शोक से बुद्धि का नाश हो जाता है, और बुद्धि के नष्ट होने पर व्यक्ति का नाश हो जाता है। अतः निर्धनता ही सब दुःखों का घर (स्थान, कारण) है ॥१३६॥

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम् ।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-
र्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम् ॥१३७॥

और, चुप रहना अच्छा है परन्तु झूँठी बात कहना अच्छा नहीं । पुरुष को नपुंसक होना अच्छा है परन्तु पराई स्त्री के साथ संभोग अच्छा नहीं । मर जाना अच्छा है परन्तु दुष्ट के वचनों में रुचि रखना अच्छा नहीं । भीख मांगना अच्छा है परन्तु दूसरे के धन से सुस्वादु भोजन का सुख अच्छा नहीं ॥१३७॥

वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभो
वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलवधूः ।

वरं वासोऽरण्ये न पुनरविवेकाधिपपुरे
वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः ॥१३८॥

सूनी गोशाला अच्छी परन्तु दुष्ट बैल अच्छा नहीं। वेश्या स्त्री अच्छी है (वेश्या को पत्नी बनाना अच्छा है) परन्तु दुःशीला, अविनीत कुल वधू अच्छी नहीं। वन में रहना अच्छा है, परन्तु अविवेकी राजा के नगर में रहना अच्छा नहीं। प्राणों को छोड़ देना अच्छा है परन्तु नीच मनुष्यों के पास जाना उचित नहीं ॥१३८॥

सेवेव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरेव लावण्यम्।
हरिहरकथेव दुरितं गुणशतमप्यर्थिता हरति ॥१३९॥

और भी—जैसे सेवा से मान नष्ट हो जाता है, चाँदनी से अन्धकार नष्ट हो जाता है, बुढ़ापे से लावण्य नष्ट हो जाता है, हरि हर कथा से पाप दूर हो जाते हैं उसी प्रकार माँगने से (याचना से) सैकड़ों गुण नष्ट हो जाते हैं ॥१३९॥

इति विमृश्य 'तत्किमहं परपिण्डेनात्मानं पोषयामि ? कष्टं भोः, तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम्।

यह सोचकर कि क्या मैं दूसरे के टुकड़ों से अपना पालन पोषण करूँ ? हाय दुर्भाग्य, ये भी दूसरी मृत्यु का द्वार है।

पल्लवग्राहि पाण्डित्यं क्रयक्रीतं च मैथुनम्।
भोजनं च पराधीनं तिस्रः पुंसां विडम्बनाः ॥१४०॥

क्योंकि, अल्प ज्ञान से अपने को पंडित समझना, धन देकर मैथुन करना, पराये आश्रय का भोजन ये तीनों बातें मनुष्य के लिये विडम्बना (तिरस्कार का हेतु) हैं ॥१४०॥

रोगी चिरप्रवासी परान्नभोजी परावसथशायी।
यज्जीवति तन्मरणं यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः ॥१४१॥

और दूसरे—रोगी का, बहुत समय तक परदेश में रहने वाले का, नित्य पराये अन्न का भोजन करने वाले का, दूसरों के घर पर सोने वालों (शयन करने वालों) का जीवन मृत्यु के समान होता है और जो मृत्यु है वह विश्राम के समान है ॥१४१॥

इत्यालोच्यापि लोभात्पुनरप्यर्थं ग्रहीतुं ग्रहमकरवम् ।

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।
तृषार्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥१४२॥

ऐसा सोचकर भी लोभ से फिर उसका धन लेने की हठ की। जैसा कि कहा है—लोभ से बुद्धि चलायमान होती है, लोभ से तृष्णा उत्पन्न होती है। और मनुष्य तृष्णा से पीड़ित होने पर इस लोक में और पर लोक में दुःख पाता है ॥१४२॥

ततोऽहं मन्दं मन्दमुपसर्पंस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडितश्चाचिन्तयम्—

इसके बाद धीरे-धीरे मुझ चलते हुए को वीणाकर्ण ने पुराने जर्जर बांस से मारा, तब मैं सोचने लगा—

धनलुब्धो ह्यसंतुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः ।
सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ॥१४३॥
सर्वाः संपद्यस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानग्दूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥१४४॥

जो पुरुष धन का लोभी है, जो असन्तुष्ट है, जिसकी आत्मा वश में नहीं है, जो जितेन्द्रिय नहीं है, जिसका मन सन्तुष्ट नहीं है, उसके लिये सभी विपत्तियां हैं ॥१४३॥ और—जिसका मन सन्तोषी है उसके पास सभी सम्पत्तियाँ विद्यमान हैं। जैसे पैर में जूता पहिने हुए व्यक्ति को सारी पृथ्वी मानो चमड़े से आच्छादित है ॥१४४॥

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चतश्च धावताम् ? ॥१४५॥
तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
येनाशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥१४६॥

और दूसरे—सन्तोष रूपी अमृत से सन्तुष्ट स्थिर शांत चित्त वालों को जो सुख है वह सुख इधर उधर दौड़ने वाले धन के लोभियों को कहाँ ? १४५॥ और जिन्होंने आशा को पीछे करके, निराशा का सहारा लिया है, उसी ने पढ़ा है, उसी ने सुना है और उसी ने सब कुछ कर लिया है ॥१४६॥

असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथाम् ।
अनुक्तक्लीबचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥१४७॥

और भी—जिसने धनी के द्वार की सेवा नहीं की (अर्थात् पैसे वाले से कभी धन नहीं मांगा), जिसने विरह के दुःख को नहीं देखा, और जिसने कभी दीन वचन अपने मुख से नहीं कहे, ऐसे किसी विरले मनुष्य का जीवन धन्य है ॥१४७॥

न योजनशतं दूरं वाह्यमानस्य तृष्णया ।
संतुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नादरः ॥१४८॥

क्योंकि—जिसे तृष्णा ने घुमा रक्खा है उसे १०० योजन भी (८०० मील) कुछ दूर नहीं । परन्तु सन्तोषी पुरुष के हाथ में धन आने पर भी (धन का) आदर नहीं होता ॥१४८॥

तदत्रावस्थोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान् ।

को धर्मो भूतदया किं सौख्यमरोगिता जगति जन्तोः ।
कः स्नेहः सद्भावः किं पाण्डित्यं परिच्छेदः ॥१४९॥

अतः यहाँ अवस्था के अनुसार कार्य का निश्चय करना कल्याणकारी है।

इस संसार में प्राणियों का धर्म क्या है? प्राणियों पर दया करना। सुख क्या है? निरोग रहना। स्नेह क्या है? सद्भावना का होना। और पाण्डित्य क्या है? ऊँच-नीच का विचार कर काम करना ॥१४९॥

परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः।
अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदे पदे ॥१५०॥

और—विपत्ति के आने पर, निर्णय करके (विचार कर) काम करना ही पाण्डित्य (चतुराई) है। क्योंकि बिना विचारे काम करने वालों को पग पग पर विपत्तियाँ आती हैं ॥१५०॥

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥१५१॥

कुल की रक्षा के लिये एक मनुष्य को छोड़ दे, ग्राम की रक्षा हेतु कुल को छोड़ दे, देश के लिये गाँव को छोड़ दे और अपनी रक्षा के लिये पृथ्वी को छोड़ दे ॥१५१॥

पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं मा भयोत्तरम्।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः" ॥१५२॥
इत्यालोच्याहं निर्जनवनमागतः।

और दूसरे—बिना परिश्रम के, अनायास प्राप्त जल हो या भय से मिला स्वादिष्ट अन्न, दोनों में विचार कर देखता हूँ जिसमें शान्ति हो वही सुखकारी है ॥१५२॥

वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं
द्रुमालयं पक्वफलाम्बुभोजनम्।

तृणानि शय्या परिधानवल्कलं
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम् ॥१५३॥

क्योंकि—सिंह एवं हाथियों से युक्त वन में रहना, पेड़ों के मकान में (पेड़ों के नीचे) रहना, पके हुए कन्द मूल फल खाकर रहना, जल पीकर रहना, घास के बिछौने पर सोना और छाल के कपड़े पहनना अच्छा है पर भाई-बन्धुओं के बीच धन हीन जीना अच्छा नहीं है ॥१५३॥

ततोऽस्मत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाहं स्नेहानुवृत्यानुहीतः। अधुना च पुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः।

फिर मेरे पुण्य के उदय से इस मित्र ने परम स्नेह से मेरा आदर किया, (मैं अनुग्रहीत हूँ) और अब मैंने पुण्य परम्परा से आपका आश्रय मुझे स्वर्ग के समान मिल गया है।

संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले।
काव्यामृतपसास्वादः संगमः सुजनैः सह' ॥१५४॥

क्योंकि—संसार रूपी विष वृक्ष के दो मीठे फल हैं। एक काव्य रूपी सुधा के रस का पान और दूसरा सज्जनों का संग ॥१५४॥

'अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवन-
मायुष्यं जललोलविन्दुचपलं फेनोपमं जीवितम्।
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥१५५॥

मन्थर बोला—धन तो पाँव की धूल के समान है, यौवन पहाड़ी नदी के वेग के समान हैं, आयु जल की चंचल बिन्दु-(बुलबले) के समान है और जीवन फेन के समान है अतः जो निर्बुद्धि स्वर्ग की

अर्गला (चटकनी, काठ का यन्त्र किवाड़ बन्द करने का) को खोलने वाले धर्म का पालन नहीं करता वह बुढ़ापा आने पर पश्चाताप कर, शोक रूपी अग्नि से जलता है ॥१५५॥

युष्माभिरतिसंचयः कृतः । तस्यायं दोषः, शृणु,—

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम् ॥१५६॥

तुमने बहुत अधिक संचय किया है, इसी का दोष है, तो सुनो—

उपार्जित किये गये धन का त्याग ही रक्षा का उपाय है जैसे भरे हुए तलाब के जल का प्रवाह होना ही उसकी रक्षा का उपाय है ॥१५६॥

यदधोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितंपचः ।
तदधोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥१५७॥

और दूसरे—लोभी जिस धन को पृथ्वी में अधिक नीचे गाढ़ता है, वह धन पाताल में जाने के लिये पहले से ही मार्ग कर लेता है ॥१५७॥

निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनार्जनमिच्छति ।
परार्थभारवाहीव क्लेशस्येव हि भाजनम् ॥१५८॥

और, जो मनुष्य (कृपण) अपने सुख को त्याग कर, धन कमाने की इच्छा करता है वह दूसरे के लिये बोझा उठाने वाले के समान केवल दुःख का पात्र होता है ॥१५८॥

दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ॥१५९॥
न देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न चात्मने ।
कृपणस्य धनं याति वह्नितस्करपार्थिवैः ॥१६०॥

और दूसरे—यदि दान और भोग से रहित धन से लोग धनी समझे जा सकते हैं तो क्या हम भी उस धन से धनी नहीं है ॥१५९॥ और, जो मनुष्य धन को देवता के, ब्राह्मण के, भाई बन्धुओं के काम में नहीं लाता हैतो उस कृपण का धन या तो जल जाता है या चोर चुरा ले जाते हैं या फिर राजा छीन लेता है ॥१६०॥

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥१६१॥
असंभोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः ।
'अस्येदमिति' संबन्धो हानौ दुःखेन गम्यते ॥१६२॥

और भी, दान, भोग और नाश ये धन की तीन गति होती हैं। जो न देता है और न खाता है उसकी तीसरी गति (नाश) ही होती है ॥१६१॥ बिना उपभोग किये कृपण का धन दूसरे मनुष्यों के समान है, परन्तु हानि होने पर, धनी के दुःखी होने से 'यह इसका धन है ऐसा जान पड़ता है ॥१६२॥

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके ॥१६३॥

मधुर वाणी के साथ दान, अहंकार रहित ज्ञान, क्षमा युक्त वीरता और दान युक्त धन ये चार बातें दुनियाँ में दुर्लभ हैं ॥१६३॥

'कर्तव्यः संचयो नित्यं कर्तव्यो नातिसंचयः ।
पश्य संचयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः' ॥१६४॥

तावाहतुः—'कथमेतत् ?' । मन्थरः कथयति—

और कहा गया है—धन का नित्य संचय करना चाहिये परन्तु अति संचय नहीं करना चाहिये। देखो, अधिक संचय करने वाला गीदड़ धनुष से मारा गया ॥१६४॥

उन दोनों ने कहा—यह कैसे है ? तब मन्थर कहने लगा—

कथा ७

[शिकारी, मृग सूअर और गीदड़ की कथा]

आसीत्कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः। स चैकदा मृगमन्विष्यमाणो विन्ध्याटवीं गतवान्। ततस्तेन व्यापादितं मृगमादाय गच्छता घोराकृतिः शूकरो दृष्टः। तेन व्याधेन मृगं भूमौ निधाय शूकरः शरेणाहतः शूकरेणापि घनघोरगर्जनं कृत्वा स व्याधो मुष्कदेशे हतः संश्छिन्नद्रुम इव भूमौ निपपात।

भैरव नाम का एक व्याध (बहेलिया, शिकारी) कल्याण कटक (प्रान्त, सूबा) में रहता था। वह एक दिन हिरन को ढूँढ़ता विन्ध्याचल वन की ओर गया। तब मारे हुए मृग को, लिए जाते हुए, उसके एक भयंकर सूअर को देखा। उस व्याध ने हिरन को पृथ्वी पर रख दिया तथा सूअर को बाण से मारा। सूअर ने भी मेघ के समान भयंकर गर्जना करके उस व्याध के मुष्क देश (गुप्तांग) में ऐसी टक्कर मारी कि वह कटे हुए वृक्ष के समान भूमि पर गिर पड़ा।

जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद्व्याधिः पतनं गिरेः।
निमित्तं किंचिदासाद्य देही प्राणैर्विमुच्यते ॥१६५॥

क्योंकि—जल, अग्नि, विष, शस्त्र, क्षुधा, व्याधि (रोग) और पहाड़ से गिरना, इनमें से किसी बहाने से देह धारी प्राणों को छोड़ देता है ॥१६५॥

अथ तयोः पादास्फालनेन सर्पोऽपि मृतः। अथानन्तरं दीर्घरावो नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान्मृतान्मृगव्याधसर्पशूकरानपश्यत्। अचिन्तयच्च—'अहो! अद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम्।

इसके बाद उन दोनों के पैरों की रगड़ से एक सर्प भी मर गया। इसके उपरान्त आहार की खोज में दीर्घराव नामक सियार ने घूमते हुए उन मरे हुए मृग, व्याध्र, सर्प और सूअर को देखा और सोचा—'अहा, आज मुझे खाने को बहुत सी वस्तुएं मिल गईं।

अचिन्तितानि दुःखानि यथैवायान्ति देहिनाम्।
सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते ॥१६६॥

अथवा, जिस प्रकार, दुःख प्राणियों के ऊपर अनायास ही आ जाते हैं वैसे ही सुख भी आते है। परन्तु इसमें प्रारब्ध बलवान है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१६६॥

तद्भवतु। एषां मांसैर्मासत्रयं मे सुखेन गमिष्यति।
मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ मृगशूकरौ।
अहिरेकं दिनं याति अद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः ॥१६७॥

जो भी हो, इनके माँस से मेरे तीन महीने सुख से बीतेंगे।

एक महीने तक मनुष्य का माँस चलेगा, दो महीने को हिरन और सूअर होगे। एक दिन को सर्प होगा आज धनुष की डोरी ही खानी चाहिये ॥१६७॥

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डलग्नं स्नायुबन्धनं खादामि।' इत्युक्त्वा तथा कृते सति छिन्ने स्नायुबन्धनं उत्पतितेन धनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"कर्तव्यः संचयो नित्यम्" इत्यादि।

तो फिर प्रथम भूख में ये स्वाद रहित, धनुष लगा हुआ, तांत का बन्धन खाता हूँ। यह कह कर, वैसा करने पर, तांत के बंधन के टूटते ही, उछलें हुए धनुष से, हृदय में चोट लगने से वह दीर्घराव मर गया। इसीलिए मैं कहता हूँ 'नित्य संचय करना चाहिये' इत्यादि।"

यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम् ।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि ॥१६८॥

और—जो कुछ दान करता है और खाता है वही धनी का धन है, अन्यथा दूसरे मनुष्य मरे हुए मनुष्य के धन तथा स्त्रियों से क्रीड़ा करते हैं ॥१६८॥

यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने ।
तत्ते वित्तमहं मन्ये शेषं कस्यापि रक्षसि ॥१६९॥
यातु, किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन ?

और—जो विशिष्ट लोगों को (सुपात्रों को) देते हो और जो प्रतिदिन खाते हो, उसे मैं तुम्हारा धन समझता हूँ, शेष धन तो किसी और का है, तुम केवल रक्षा करते हो ॥१६९॥ जाने दो, जो बीत गया उसके कहने से क्या लाभ ?

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥१७०॥
तत्सखे ! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम् ।

क्योंकि—पंडित बुद्धि वाले (विद्वान) मनुष्य दुर्लभ वस्तु को नहीं चाहते हैं, जो नष्ट हो गई है उसका सोच नहीं करते हैं और आपत्ति काल में व्याकुल नहीं होते ॥१७०॥

अतः हे मित्र ! तुम्हें सदैव उत्साही रहना चाहिये ।

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥१७१॥

क्योंकि—शास्त्र पढ़कर भी मूर्ख होते हैं परन्तु जो क्रिया में चतुर हैं वे ही पुरुष विद्वान होते हैं । जैसे अच्छे प्रकार से विचार की

गई औषधि, नाम मात्र से ही रोगी के रोग को दूर नहीं कर देतीं ॥१७१॥

न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः
करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि ।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि
प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः ? ॥१७२॥

और दूसरे—जो अध्यवसाय (उद्योग, श्रम) से डरते हैं उन्हें विज्ञान के नियम (विशेष ज्ञान के सूत्र) थोड़ा भी लाभ नहीं करते। जैसे-अन्धे की हथेली पर रखा हुआ दीपक, अंधे को किसी वस्तु को प्रकाशित नहीं करता ॥१७२॥

तदत्र सखे ! दशाविशेषे शान्तिः करणीया । एतदप्यतिकष्टं त्वया न मन्तव्यम् ।

इस कारण, हे मित्र ! इस विशेष दशा में शान्ति करनी चाहिये । इसे भी तुम्हें बहुत कष्ट दायक नहीं मानना चाहिये ।

राजा कुलवधूर्विप्रा मन्त्रिणश्च पयोधराः ।
स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः ॥१७३॥

इति विज्ञाय मतिमान्स्वस्थानं न परित्यजेत् । कापुरुषवचनमेतत् ।

क्योंकि—राजा, कुल की वधू, ब्राह्मण, मन्त्री, स्तन, दांत, नाखून और मनुष्य ये अपने स्थान से अलग होने पर शोभित नहीं होते ॥१७३॥

ये जानकर बुद्धिमान को अपने स्थान का त्याग नहीं करना चाहिये । कायरों का ये वचन है—

स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः ।
तत्रैव निधनं यान्तिः काकाः कापुरुषा मृगाः ॥१७४॥

कि—अपने स्थान को छोड़ कर सिंह, सत्पुरुष और हाथी जाते हैं। तथा कौए, कायर और मृग वहीं (एक ही स्थान पर, जहाँ जन्म लेते हैं, वहीं) मर जाते हैं ॥१७४॥

को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः, को वा विदेशस्तथा
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गूलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते।
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्यात्मनः ॥१७५॥

वीर एवं मनस्वी (उद्योगी) मनुष्य को देश और विदेश क्या है! (अर्थात् जैसा देश वैसा परदेश)। वे जिस देश में रहते हैं, उसी को अपनी भुजा के प्रताप से जीत लेते हैं (अपने वश में कर लेते हैं) जैसे सिंह जिस वन में दाँत, नाखून और पूँछ से प्रहार करता हुआ, घुस जाता है, उसी वन में अपने बल से मारे हुए हाथियों के रुधिर से अपनी प्यास बुझाता है ॥१७५॥

निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसंपदः ॥१७६॥

जिस प्रकार कूए में मेंढक जाते हैं और जल से भरे तालाब पर पक्षी जाते हैं, उसी प्रकार सभी सम्पत्तियाँ विवश होकर उद्योगी पुरुष के पास चली जाती हैं ॥१७६॥

सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा।
चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥१७७॥

आये हुए सुख का भोग करना चाहिये और आये हुए दुःख को भी सहना चाहिये। क्योंकि सुख और दुःख पहिये की तरह घूमते रहते हैं ॥१७७॥

उत्साहसंपन्नमदीर्घसूत्रं
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।

शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ।।१७८।।

और दूसरे—उत्साह युक्त, आलस्य रहित, कार्य विधि के ज्ञाता, व्यसनों (द्युत, वेश्या, मद्य आदि) से रहित, वीर, कृतज्ञ एवं पक्की मित्रता वाले व्यक्ति के लक्ष्मी स्वयं ही निवास के लिये आ जाती है ।।१७८।।

निवाप्यर्थैर्वीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयावप्तिविषयां
द्युतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते ? ।।१७९।।

विशेष बात तो ये है कि—वीर पुरुष धन हीन होने पर भी बहुत मान एवं उन्नति के पद को प्राप्त कर लेता हैं। तथा कंजूस धन युक्त होने पर भी निरादर, तिरस्कार प्राप्त करता है। क्या कुत्ता कभी गले में स्वर्ण (सोने) की माला पहिने हुए भी स्वभाव से प्रकाशित, सम्पूर्ण गुणों को प्रकट करने वाली सिंह की कान्ति को पा सकता है ? (अर्थात् कभी नहीं पा सकता) ।।१७९।।

धनवानिति हि मदो मे किं गतविभवो विषादमुपयामि ?।
करनिहतकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम् ।।१८०।।

धनवान होने पर 'मैं धनी हूं' ऐसा गर्व क्यों करूं ? या धन नष्ट होने पर विषाद करूं ? निश्चय ही मनुष्यों का ऊँचा-नीचा होना (उन्नति-अवनति) हाथ से उछाली हुई गेंद के समान होता है ।।१८०।।

अभ्रच्छाया खलप्रीतिर्नवसस्यानि योषितः ।
किंचित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ।।१८१।।

वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता ।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ ॥१८२॥

और दूसरे—बादल की छाया, दुष्टजनों की प्रीति, नया अन्न, स्त्रियाँ, यौवन और धन ये सब थोड़े समय के उपभोग के लिये होती हैं ॥१८१॥ जीविका हेतु अधिक उद्योग नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसे तो विधाता ने ही रच रखा है । प्राणी के (बच्चे के) गर्भ से बाहर आते ही माता के स्तनों से दूध निकलने लगता है ॥१८२॥

येन शुल्कीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥१८३॥

और भी हे मित्र ! जिसने हंसों को श्वेत, तोतों को हरा और मोरों को विचित्र रंग का बनाया है, वही विधाता तेरी जीविका बना देगा ॥१८३॥

अपरं च,—सतां रहस्यं शृणुः मित्र !

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपित्तषु ।
मोहयन्ति च संपत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः ? ॥१८४॥

और दूसरे—हे मित्र ! सज्जनों के रहस्य को सुनो—जिसके पैदा (उपार्जन) करने में दुःख होता है, आपत्ति में (नष्ट होने पर) पीड़ित करता है, अधिक बढ़ जाने पर मदान्ध (मोहित, मुग्ध) कर देता है ऐसा धन सुख दायक कैसे हो सकता है ? ॥१८४॥

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ॥१८५॥

और—जिसको धर्म के लिये धन की इच्छा है, उसको धन की इच्छा से रहित ही होना चाहिये । क्योंकि कीचड़ को पांव में लगा

कर फिर धोने के बजाय उससे दूर रहना ही अच्छा है ॥१८५॥

यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥१८६॥

क्योंकि—जैसे मांस आकाश में पक्षियों द्वारा पृथ्वी पर हिंसक जन्तुओं द्वारा, जल में मगर आदि द्वारा खाया जाता है वैसे ही सर्वत्र धनवान का धन खाया जाता है ॥१८६॥

राजतः सलियादग्नेश्चोरतः स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणभृतामिव ॥१८७॥

धनाढ्यों को राजा से, जल से, अग्नि से, चोर से, अपने सगे सम्बन्धियों से हमेशा ऐसा भय रहता है जैसे प्राणियों को मृत्यु से भय रहता है ॥१८७॥

जन्मनि क्लेशबहुले किं नु दुःखमतः परम् ? ।
इच्छासंपद्यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते ॥१८८॥

इस दुःखमय जीवन में मनुष्य को इससे अधिक दुःख और क्या हो सकता है कि न तो उसे इच्छा के अनुसार धन की प्राप्ति ही होती है और न उसकी इच्छायें ही शान्त होती हैं ॥१८८॥

अन्यच्च भ्रातः ! शृणु,—

धनं तावदसुलभं लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते ।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥१८९॥

और दूसरे, हे भ्राता सुनो ! प्रथम तो धन का प्राप्त करना ही कठिन है फिर उसकी रक्षा बड़े दुःख से होती है । प्राप्त हुए धन का नाश मृत्यु के समान कष्ट दायी होता है । इस कारण मनुष्य को इस की चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥१८९॥

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः क ईश्वरः ?।
तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो दास्यं च शिरसि स्थितम् ॥१९०॥

इस संसार में तृष्णा के त्याग देने पर कौन दरिद्री है और कौन धनवान है ? किन्तु जिसने तृष्णा को अवकाश दिया उसके शिर पर दासता आ बैठती है ॥१९०॥

यद्यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते ।
प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते ॥१९१॥

किं बहुना पक्षापतेन ? मयैव सहात्र कालो नीयताम् ।

और—जब जिस वस्तु में मनुष्य की कामना होती है तब उसके लाभ की आशा होती है। जब वस्तु प्राप्त हो जाती है तो उस-की लाभ आशा शान्त हो जाती है ॥१९१॥ अधिक कहने से क्या लाभ ? मेरे साथ मित्र रूप में रहकर समय बिताओ ।

आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम्' ॥१९२॥

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते-'धन्योऽसि मन्थर ! सर्वथा श्ला-घ्यगुणोऽसि ।

क्योंकि—महानुभावों (महात्माओं, उदारचरितों) का स्नेह मृत्यु पर्यन्त स्थायी होता है और उनका क्रोध शीघ्र ही (क्षण मात्र में) शान्त हो जाता है। और दान आसक्ति रहित, फलाकांक्षा रहित होता है ॥१९२॥

इसे सुनकर लघुपतनक बोला—हे मन्थर ! तुम धन्य हो, तुम्हारे गुण सब प्रकार प्रशंसनीय हैं ।

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरंधराः ॥१९३॥

क्योंकि—सज्जनों की आपत्ति को दूर करने में सदैव सज्जन

ही समर्थ होते हैं। जैसे कीचड़ में फँसे हाथी को बाहर निकालने में हाथी ही समर्थ होते हैं ॥१९३॥

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां
स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः।
यस्यार्थिनो वा शरणागता वा
नाशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति ॥१९४॥

क्योंकि—पृथ्वी पर मनुष्यों में वही सबसे अधिक प्रशंसनीय है, वही उत्तम, सज्जन पुरुष है और वही धन्य है जिसके पास से याचक अथवा शरणागत निराश और विमुख होकर नहीं लौटते ॥१९४॥

तदेवं ते स्वेच्छाहारविहारं कुर्वाणाः सन्तुष्टाः सुखं निवसन्ति'। अथ कदाचिच्चित्राङ्गनामा मृगः केनापि त्रासितस्तत्रागत्य मिलितः। ततः पश्चादायान्तं मृगमवलोक्य भयं संचिन्त्य मन्थरो जलं प्रविष्टः, मूषिकश्च विवरं गतः, काकोऽप्युड्डीय वृक्षमारूढः। ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातीत्यालोचितम्। पश्चात्तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः। मन्थरेणोक्तम्—भद्रम्, मृग! स्वागतम्। स्वेच्छयोदकाद्याहारोऽनुभूयताम्। अत्रावस्थानेन वनमिदं सनाथीक्रियताम्।' चित्राङ्गो ब्रूते—'लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतः। भवद्भिः सह सख्यमिच्छामि।' हिरण्यकोऽवदत्—'मित्रत्वं तावदस्माभिः सह भवताऽयत्नेन मिलितम्।

तब वे इस प्रकार अपनी इच्छानुसार आहार–विहार करते हुए सन्तोष से सुख पूर्वक रह रहे थे। तभी एक दिन चित्रांग नामक हिरन किसी कारण डरा हुआ वहाँ आकर मिला। इसके पीछे आते हुए मृग को और भय को सोचकर मन्थर तो जल में घुस गया, चूहा

बिल में चला गया और कौआ भी उड़कर पेड़ पर जा बैठा। तब लघुपतनक ने दूर तक देख कर निर्णय किया कि कोई भी भय का कारण नहीं है। पीछे उसके वचनों से वे सभी वहाँ मिलकर आ बैठे। मन्थर ने कहा—भाई मृग, तेरा स्वागत है। अपनी इच्छानुसार जल आहार आदि करो और यहाँ निवास कर इस वन को सनाथ करो।" चित्रांग बोला—व्याध के डर से मैं तुम्हारी शरण में आया हूँ। आप लोगों के साथ मित्रता करना चाहता हूँ। हिरण्यक बोला—मित्रता तो तुम्हारी हमारे साथ अनायास ही (सहज भाव में ही) हो गई है।

औरसं कृतसंबन्धं तथा वंशक्रमागतम्।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥१९५॥

क्योंकि—मित्र चार प्रकार के होते हैं–एक तो औरस (जन्म से ही जैसे पुत्र आदि), दूसरे सम्बन्ध होने के कारण (विवाह एवं अन्य रिश्तेदारियों के कारण), तीसरे वंश परम्परा से और चौथे जो आपत्तियों से रक्षा करें ॥१९५॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषं स्थायताम्'। तच्छ्रुत्वा मृगः सानन्दो भूत्वा स्वेच्छाहारं कृत्वा पानीयं पीत्वा जलासन्नतरुच्छायायामुपविष्टः। अथ मन्थरेणोक्तम्—'सखे मृग ! एतस्मिन्निर्जने वने केन त्रासितोऽसि ? कदाचित्किं व्याधाः संचरन्ति ?'। मृगेणोक्तम्—'अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नरपतिः। स च दिग्विजयव्यापारक्रमेणागत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावासितकटको वर्तते। प्रातश्च तेनात्रागत्य कर्पूरसरः समीपे भवितव्यमिति व्याधानां मुखात्किंवदन्ती श्रूयते। तदत्रापि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथावसरकार्यमारभ्यताम्'। तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह—'जलाशयान्तरं

गच्छामि'। काकमृगावप्युक्तवन्तौ—'एवमस्तु'। ततो हिरण्यको विहस्याह—'जलाशयान्तरे प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम्। स्थले गच्छतः कः प्रतीकारः ?

तो तुम यहाँ अपने घर से भी अधिक रूप में यहाँ रहो। इसे सुनकर हिरन प्रसन्न होकर, अपनी इच्छानुसार भोजन कर, पानी पीकर, जल के पास, पेड़ की छाया में बैठ गया। फिर मन्थर ने कहा—हे मित्र मृग ! इस निर्जन वन में किसने तुम्हें डराया है। क्या कभी यहाँ बहेलिये आते हैं। हिरन ने कहा—कलिंग देश में रुक्मांगद नामक राजा है। और वह दिग्विजय के कार्य के आकर, चन्द्रभागा नदी के किनारे, सेना के साथ उपस्थित है। प्रातः काल वह यहाँ आकर, कर्पूर सरोवर के पास ठहरेगा, ये शिकारियों से मुख से ये किंवदन्ती सुनी गई है। तो यहाँ भी प्रातः काल रुकना भय का कारण है, ऐसा विचार कर यथा समय कार्य करना चाहिये। इसे सुनकर कछुआ डर कर बोला—मैं तो दूसरे सरोवर पर जाता हूँ। कौए और हिरन ने भी कहा—ऐसा ही हो (अर्थात् अच्छा चलो)। फिर हिरण्यक ने हँस कर कहा—दूसरे जलाशय तक मन्थर पहुँचने पर कुशल रहेगा। स्थल पर जाते समय क्या प्रतिकार (उपाय) है ?

अम्भांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम्।
स्वभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां मन्त्री परं बलम् ॥१९६॥

क्योंकि—जल के जन्तुओं का जल का बल है, दुर्ग (किले) में रहने वालों का दुर्ग बल है। सिंह आदि वन चारियों की अपनी भूमि बल है और राजाओं का मन्त्री परम बल होता है ॥१९६॥

सखे लघुपतनक ! अनेनोपदेशेन तथा भवितव्यम्,
स्वयं वीक्ष्य यथा वध्वाः पीडितं कुचकुड्मलम्।

वणिक्पुत्रोऽभवद्दुःखी त्वं तथैव भविष्यसि' ॥१९७॥
ते ऊचुः—'कथमेतत् ?'। हिरण्यकः कथयति—

हे मित्र लघुपतनक ! इस उपदेश से तो वही होगा—जैसे एक वैश्य पुत्र स्वयं ही अपनी स्त्री के कमल कली के समान कुच (स्तन) को मसलते हुए देखकर दुःखी हुआ, उसी प्रकार तुम भी होंगे ॥१९७॥
उन्होंने पूछा—यह कथा कैसे है ? हिरण्यक कहने लगा—

कथा ८

[राजकुमार और सुन्दर युवती एक उसके पति की कथा]

अस्ति कान्यकुब्जविषये वीरसेनो नाम राजा। तेन वीरपुरनाम्नि नगरे तुङ्गबलो नाम राजपुत्रो भोगपतिः कृतः। स च महाधनस्तरुण एकदा स्वनगरे भ्राम्यन्नतिप्रौढयौवनां लावण्यवतीं नाम वणिक्पुत्रवधूमालोकयामास। ततः स्वहर्म्यं गत्वा स्मराकुलमतिस्तस्याः कृते दूतीं प्रेषितवान्।

कन्नौज देश में एक वीर सेन नामक राजा था। उसने वीर पुर नामक नगर में तुंगबल नामक राजपुत्र को युवराज बना दिया। और उस महान धनवान युवक ने एक दिन अपने नगर में घूमती हुई अन्त्यन्त सुन्दर नव यौवना एक वैश्य की पुत्र वधू को देखा। फिर अपने महल में जाकर, अत्यन्त कामातुर होकर, उसके लिये उसने एक दूती भेजी।

सन्मार्गे तावदास्ते, प्रभवति पुरुषस्तावदेन्द्रियाणां,
लज्जां तावद्विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव।

भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ।१९८।

क्योंकि—पुरुष तभी तक सन्मार्ग पर रहता है, तभी तक वह इन्द्रियों को वश में रख पाता है, तभी तक लज्जावान रहता है, तभी तक विनय का सहारा लेता है, जब तक स्त्री के भौंह रूपी धनुष को कान तक खींचे गये, ये नीले पलक वाले नेत्र रूपी बाण (कटाक्ष) उसके (पुरुष के) हृदय में नहीं चुभते ।।१९८।।

सापि लावण्यवती तदवलोकनक्षणात्प्रभृति स्मरशरप्रहार-जर्जरितहृदया तदेकचित्ताऽभवत् ।

वह सुन्दरी भी उस राजकुमार को देखते ही, कामदेव के बाणों के प्रहार से जर्जरित हृदय वाली और उसी के ध्यान में मग्न हो गई ।

असत्यं साहसं माया मात्सर्यं चातिलुब्धता ।
निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ।।१९९।।

जैसा कि कहा गया है—असत्य, साहस, माया, ईर्ष्या, अत्यन्त लोभ, निर्गुणता और अशुद्धता ये दोष स्त्रियों के स्वभाव से ही होते हैं ।।१९९।।

अथ दूतीवचनं श्रुत्वा लावण्यवत्युवाच—'अहं पतिव्रता कथमेतस्मिन्नधर्मे पतिलङ्घने प्रवर्ते ?

फिर दूती की बात सुनकर लावण्यवती बोली—'मैं पतिव्रता हूं, मैं किस प्रकार पतिव्रत धर्म का उल्लंघन कर, इस अधर्म में कैसे लगूं ?

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ।।२००।।

न सा भार्येति वक्तव्या यस्या भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां संतुष्टाः सर्वदेवताः ॥२०१॥

वही भार्या है जो गृहकार्य में कुशल हो, वही भार्या है जो सन्तान वाली हो वही भार्या है जो पति की प्यारी हो और वही भार्या है जो पतिव्रता हो ॥२००॥ जिसका पति सन्तुष्ट न हो उसे भार्या नहीं कहते । पति के सन्तुष्ट होने पर स्त्री से सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं ॥२०१॥

ततो यद्यदादिशति मे प्राणेश्वरस्तदेवाहमविचारितं करोमि।' दूत्योक्तम्—'सत्यतममेतत् ।' लावण्यवत्युवाच—'ध्रुवं सत्यमेतत् ॥' ततो दूतिकया गत्वा तत्तत्सर्वं तुङ्गबलस्याग्रे निवेदितम् । तच्छ्रुत्वा तुङ्गबलोऽब्रवीत्—'विषमेषुणा व्रणित-हृदयस्तां विना कथमहं जीविष्यामि ?' । कुट्टन्याह—'स्वामि-नानीय समर्पयितव्या' इति । स प्राह—'कथमेतच्छक्यम् ?' । कुट्टन्याह—'उपायः क्रियताम् ।

अतः जो जो मेरे पति मुझ से कहते हैं मैं उसे बिना बिचारे ही करती हूँ । दूती बोली—ये बात तो बहुत सत्य है । लावण्यवती ने कहा—ये ध्रुव सत्य (अटल सत्य) है । फिर दूती ने जाकर ये सब समाचार तुंग बल से जाकर कहे । उस समाचार को सुन–तुंग बल ने कहा—उसके तीखे काम बाणों से बेधित हृदय वाला मैं उसके बिना कैसे जीवित रहूँगा । दूती ने कहा—उसके पति को ही लाकर आपको उसे देनी चाहिये । उस (राजकुमार ने) कहा—ये कैसे हो सकेगा ? कुट्टिनी (दूती) ने कहा—उपाय कीजिये ।

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना' ॥२०२॥

राजपुत्रः पृच्छति— 'कथमेतत् ?'। सा कथयति—

जैसा कि कहा गया है—जो काम उपाय से सिद्ध हो सकता है, वह पराक्रम से नहीं। कीचड़ के रास्ते से जाते हुए एक गीदड़ द्वारा एक हाथी मार दिया गया ॥२०२॥

राजपुत्र ने पूछा—ये कथा कैसे है ? उसने कहा—

कथा ६

[धूर्त गीदड़ एवं कर्पूरतिलक हाथी की कथा]

अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती। तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म—'यद्ययं केनाप्युपायेन म्रियते तदाऽस्माकमेतद्देहेन मासचतुष्टयस्य भोजनं भविष्यति।' तत्रैकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञातम्—'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं साधयितव्यम्।' अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु'। हस्ती सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः यद्विना राज्ञाऽवस्थातुं न युक्तम्, तदात्राटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान् सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः।

ब्रह्मारण्य में एक कर्पूर तिलक नामक हाथी था। उसे देखकर समस्त सियारों ने सोचा कि यदि किसी उपाय से यह मर जाय तो इसके माँस से हम लोगों का चार महीने तक सुख पूर्वक भोजन हो। उनमें से एक बूढ़े सियार ने प्रतिज्ञा की—मैं अपनी बुद्धि के प्रभाव से इसे मारूँगा। इसके उपरान्त उस धूर्त सियार ने कर्पूर तिलक के पास जाकर, साष्टांग प्रणाम करके कहा—हे देव कृपा दृष्टि करो। हाथी बोला—तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? उसने कहा—मैं

सियार हूँ। सभी वनवासी पशुओं ने मिलकर मुझे आपके पास भेजा है कि राजा के बिना रहना उचित नहीं है, अतः स्वामित्व के सकल गुणों से युक्त आपको यहाँ का राजा बनाने का निश्चय किया है।

यः कुलाभिजनाचारैरतिशुद्धः प्रतापवान्।
धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि ॥२०३॥

जो कुल से, जन्म से और आचरण से अत्यन्त शुद्ध हो, प्रतापी हो, धार्मिक और नीति निपुण हो, वही पृथ्वी का राजा होने के योग्य होता है ॥२०३॥

राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या धनम् ? ॥२०४॥
पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥२०५॥

और देखो—मनुष्य को प्रथम राजा को ढूँढ़ना चाहिये, इसके बाद स्त्री और फिर धन की खोज करनी चाहिये। क्योंकि इस संसार में यदि राजा ही नहीं है तो फिर स्त्री कहाँ ? धन कहाँ ॥२०४॥ वर्षा के समान राजा प्राणियों का आश्रय है। वर्षा के न होने पर तो जीवित रहना सम्भव भी है किन्तु राजा के विना जीना असंभव है ॥२०५॥

नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगा-
ज्जगति परवशेऽस्मिन्दुर्लभः साधुवृत्तः।
कृशमपि विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा
पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति ॥२०६॥

इस पराधीन संसार में प्रायः मनुष्य दंड के भय से ही निय-

मानुकूल आचरण करते हैं। वैसे यथा व्यवस्थित आचरण, स्वभाव से धार्मिक मनुष्य का मिलना दुर्लभ है। कुलीन नारी दण्ड के भय से ही अपने दुर्बल, रोगी एवं दरिद्री पति को स्वीकार कर लेती है ॥२०६॥

तद्यथा लग्नवेला न विचलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन'। इत्युक्त्वोत्थाय चलितः। ततोऽसौ राज्यलोभाकृष्टः कर्पूरतिलकः शृगालवर्त्मना धावन्महापङ्के निमग्नः। ततस्तेन हस्तिनोक्तम्—'सखे शृगाल ! किमधुना विधेयम् ? पङ्के निपतितोऽहं म्रिये। परावृत्य पश्य'। शृगालेन विहस्योक्तम्—'देव ! मम पुच्छकावलम्बनं कृत्वोत्तिष्ठ। यन्मद्विधस्य वचसि त्वया प्रत्ययः कृतस्तदनुभूयतामशरणं दुःखम्।

अतः लग्न का समय न निकल जाय, आप शीघ्र ही आइये। ऐसा कह कर वह सियार चल दिया। इसके बाद वह राज्य का लोभी कर्पूर तिलक सियार के मार्ग में (पीछे) दौड़ता हुआ गहरे कीचड़ में फँस गया। तब उस हाथी ने कहा—हे मित्र सियार, अब क्या करना चाहिये ? मैं कीचड़ में फँसा मर रहा हूँ। घूम कर देखो। सियार ने हँस कर कहा—महाराज ! मेरी पूँछ का सहारा लेकर उठ कर चले आइये। जब आपने मुझ जैसे के वचन का विश्वास किया है तो निःसहाय होकर दुःख सहन करना पड़ेगा। जैसा कहा है—

यदाऽसत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि।
तदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि' ॥२०७॥

यदि सज्जनों को संगति में रहोगे तो निश्चय ही सुखी रहोगे और यदि दुष्टों का संग करोगे तो अवश्य गिरोगे। ॥ २०७ ॥

ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि- "उपायेन हि यच्छक्यम्" इत्यादि। ततः कुट्टिन्युपदेशेन तं चारुदत्तनामानं वणिक्पुत्रं स राजपुत्रः सेवकं चकार। ततोऽसौ तेन सर्वविश्वासकार्येषु नियोजितः।

तब गहरी कीचड़ में फँसा हुआ वह हाथी सियारों द्वारा खा लिया गया। इसीलिये मैं कहती हूँ—"उपाय से जो हो जाय इत्यादि। तब कुट्टनी के उपदेश से चारु दत्त नामक वणिक पुत्र को उस राजपुत्र ने सेवक बना लिया। और इसके बाद उसे सभी विश्वास के कार्यों में नियुक्त कर दिया।

एकदा तेन राजपुत्रेण स्नातानुलिप्तेन कनकरत्नालंकारधारिणा प्रोक्तम्—'अद्यारभ्य मासमेकं गौरीव्रतं कर्तव्यम्। तदत्र प्रतिरात्रमेकां कुलीनां युवतिमानीय समर्पय। सा मया यथोचितेन विधिना पूजयितव्या।' ततः स चारुदत्तस्तथाविधां नवयुवतीमानीय समर्पयति। पश्चात्प्रच्छन्नः सन्किमयं करोतीति निरूपयति। स च तुङ्गबलस्तां युवतिमस्पृशन्नेव दूरास्त्रद्धालंकारगन्धचन्दनैः संपूज्य रक्षकं दत्त्वा प्रस्थापयति। अथ वणिक्पुत्रेण तद्दृष्ट्वोपजातविश्वासेन लोभाकृष्टमनसा स्ववधूर्लावण्यवती समानीय समर्पिता। स च तुङ्गबलस्तां हृदयप्रियां लावण्यवतीं विज्ञाय ससंभ्रममुत्थाय निर्भरमालिङ्ग्य निमीलिताक्षः पर्यङ्के तया सह विललास। तदालोक्य वणिक्पुत्रश्चित्रलिखित इवेतिकर्तव्यतामूढः परं विषादमुपगतः। अतोऽहं ब्रवीमि—"स्वयं वीक्ष्य" इत्यादि। तथा त्वयापि भवितव्यम्' इति। तद्धितवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव तं जलाशयमुत्सृज्य मन्थरश्चलितः। तेऽपि हिरण्यकादयः स्नेहादनिष्टं शङ्कमाना मन्थरमनुगच्छन्ति। ततः स्थले गच्छन्केनापि व्याधेन

काननं पर्यटता मन्थरः प्राप्तः । प्राप्य तं गृहीत्वोत्थाप्य धनुषि बद्ध्वा भ्रमन्क्लेशात्क्षुत्पिपासाकुलः स्वगृहाभिमुखं चलितः। अथ मृगवायसमूषकाः परं विषादं गच्छन्तस्तमनुजग्मुः ।

एक दिन उस राजपुत्र ने, स्नान कर चन्दन लगा, सुगंधित द्रव्य लगा कर, रत्न जटित स्वर्ण आभूषण पहिन कर कहा—चारूदत्त ! आज से लेकर एक माह तक मैं गौरी व्रत करूँगा । अतः प्रत्येक रात्रि को एक कुलीन युवती स्त्री लाकर दो। मैं उसकी यथोचित पूजा करूँगा । तत्पश्चात् चारूदत्त वैसी ही नवीन युवती लाकर उसे देता था । और फिर स्वयं छिपकर देखता था कि यह क्या करता है ? और वह तुंग बल उस नवयुवती को विना ही छुए दूर से वस्त्र, आभूषण, गन्ध, चन्दनादि से पूजा कर रखवाला साथ देकर बिदा कर देता था । फिर उस वैश्य पुत्र ने, यह देख, विश्वास में आ, लोभ से आकृष्ट चित्त वाले ने अपनी स्त्री लावण्यवती को लाकर दिया । और उस तुंगबल ने उसे अपनी प्राणप्यारी लावण्यवती जानकर शीघ्रता से उठकर, गाढ़ आलिंगन कर, नेत्र बन्द कर पलंग पर उसके साथ विलास किया । इसे देख बनिये का बेटा, चित्र लिखे के समान, किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर बहुत दुःखी हुआ । इसीलिये मैं कहता हूँ— "स्वयं देखकर इत्यादि । तुम भी उसी प्रकार दुःखी बनोगे । उसके हित वाले वचनों का तिरस्कार कर अत्यन्त भय के कारण, मोह से युक्त के समान, मंथर उस जलाशय को छोड़ कर चल दिया । वे हिरण्यक आदि भी, स्नेह से, विपत्ति की शंका करके, मन्थर के पीछे-पीछे चल दिये । तब पृथ्वी पर रेंगते हुए (जाते हुए) किसी व्याध ने उस मन्थर को देख लिया । उसे प्राप्त कर, उसे लेकर, उठाकर, धनुष में बाँध कर, घूमता हुआ क्लेश से उत्पन्न हुई भूख से, प्यास से

व्याकुल, वह व्याध अपने घर की ओर चल दिया। तब हिरन कौआ, चूहा भी बहुत दुःखित हृदय से उसके पीछे-पीछे चले।

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥२०८॥

तब हिरण्यक विलाप करने लगा--इससे पूर्व कि मैं सागर को पार करने के समान एक दुःख के पार जाऊँ दूसरा दुःख आकर उपस्थित हो जाता है सत्य है क्लेश में क्लेश और बढ़ते जाते हैं या अनर्थ के साथ बहुत से अनर्थ और आ जाते हैं ॥२०८॥

स्वाभाविकं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥२०९॥

न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चात्मजे।
विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृङ्मित्रे स्वभावजे ॥२१०॥

इति मुहुर्विचिन्त्य 'अहो दुर्दैवम्!

स्वाभाविक स्नेह करने वाला मित्र तो सौभाग्य से ही मिलता है, वह अकृत्रिम सौहार्द को आपत्तियों में भी नहीं छोड़ता ॥२०९॥ मनुष्य का जैसा विश्वास स्वाभाविक मित्र का होता है वैसा न माता में, न स्त्री में, न सगे भाई में, न पुत्र का होता है ॥२१०॥ इस प्रकार बार-बार सोच कर बोला—'अरे दुर्भाग्य है।'

स्वकर्मसंतानविचेष्टितानि
कालान्तरावर्तिशुभाशुभानि।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि
जन्मान्तराणीव दशान्तराणि ॥२११॥

इस संसार में मैंने स्वयं ही, अपने कर्मो द्वारा किये गये, भिन्न-भिन्न कालों में अच्छे और बुरे फल की आवृत्ति वाले, जमान्तरों के समान अवस्थाओं के भेद मैंने इसी जीवन में अनुभव कर लिये। (अर्थात् इस जगत में स्वपाप पुण्यानुसार और समय के परिवर्तन से होने वाले सुख-दु:ख, पूर्व जन्म के किये गये पाप-पुण्य के फल, मैंने यहाँ ही देख लिये) ॥२११॥

काय: संनिहितापाय: संपद: पदमापदाम् ।
समागमा: सापगमा: सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥२१२॥

अथवा यह ठीक ही है—शरीर क्लेशों से घिरा हुआ है । धन आपत्तियों का स्थान है । संयोग में वियोग है और जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह सब नाशवान है ॥२१२॥

'शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं 'मित्र' मित्यक्षरद्वयम् ॥२१३॥

और विचार कर बोला—शोक, शत्रु और भय से बचाने वाला, प्रीति और विश्वास का पात्र ये दो अक्षर वाला 'मित्र' रूपी रत्न किसने रचा है ॥२१३॥

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतस:
पात्रं यत्सुखदु:खयो: सह भवेन्मित्रेण तद्दुर्लभम् ।
ये चान्ये सुहृद: समृद्धिसमयये द्रव्याभिलाषाकुला-
स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्' ।२१४।

जो मित्र नयनों में अनुराग उत्पन्न करने की औषधि है, हृदय को आनन्द दायक है, जो सुख–दु:ख में साथ देने वाला है, ऐसा मित्र दुर्लभ है । धन की तृष्णा से सम्पत्ति काल में तो अनेक मित्र बन जाते

हैं किन्तु विपत्ति ही ऐसे मित्रों का यथार्थ रूप जानने की कसौटी है ॥२१४॥

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्गलघुपतनकावाह—'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम् ।' तावूचतुः—'सत्वरं कार्यमुच्यताम् ।' हिरण्यको ब्रूते—'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं दर्शयतु। काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु। नूनमनेन लुब्धकेन तत्र कच्छपं परित्यज्य मृगमांसार्थिना सत्वरं गन्तव्यम्। ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि। संनिहिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम् ।' चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथानुष्ठिते सति स व्याधः श्रान्तः पानीयं पीत्वा तरोरधस्तादुपविष्टस्तथाविधं मृगमपश्यत्। ततः कर्तरिकामादाय प्रहृष्टमना मृगान्तिकं चलितः। तत्रान्तरे हिरण्यकेनागत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम्। स कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविवेश । स मृग आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय पलायितः। प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत्तरुतलमायाति तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्ममासमीक्ष्यकारिणः।

इस प्रकार बहुत विलाप करके हिरण्यक ने चित्रांग तथा लघुपतनक से कहा कि जब तक ये बहेलिया बन के बाहर नहीं पहुँचता है तब तक मन्थर को छुड़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। वे दोनों बोले—क्या काम करना चाहिये, वह शीघ्र कहो। हिरण्यक बोला कि चित्रांग जल के पास जाकर अपने को मरे हुए के समान दिखायें। कौवा उसके ऊपर बैठकर अपनी चोंच से कुछ खोदे। निश्चय ही मृग माँस का लोभी वह बहेलिया कछुए को छोड़कर शीघ्र ही वहाँ जायेगा। तब मैं मन्थर के बन्धन को काट दूँगा। व्याध के समीप आने पर

तुम भाग आना। चित्रांग एवं लघुपतनक के शीघ्र जाकर वैसा करने पर, उस व्याध ने थकित, पानी पीकर, पेड़ के नीचे बैठ कर, उस स्थिति में मृग को देखा। तब कैंची लेकर, प्रसन्न होता हुआ, हिरन के पास गया। इसी बीच में हिरण्यक ने आकर मन्थर के बन्धन काट दिये। वह कछुआ शीघ्र ही तालाब में घुस गया। वह हिरन आते हुए उस बहेलिये को देख कर, उठकर भाग गया। लौटकर जब बहेलिये ने पेड़ के नीचे पहुँचकर, कछुए को न देखा तो सोचने लगा—कि मेरे बिना विचारे काम करने वाले के लिये ये ठीक ही हुआ।

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥२१५॥

जो मनुष्य निश्चित वस्तु को छोड़ कर अनिश्चित पदार्थ का आश्रय लेता है, उसके निश्चित पदार्थ तो नष्ट हो जाते हैं और निश्चित तो नष्ट है ही ॥२१५॥

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः। मन्थरादयः सर्वे त्यक्तापदः स्वस्थानं गत्वा तथा सुखमास्थिताः॥

फिर वह अपने कर्म के कारण निराश अपने घर (गाँव) गया। मन्थर आदि भी सभी आपत्तियों से रक्षित होकर, अपने-अपने स्थान पर जाकर सुख पूर्वक रहने लगे।

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्—'सर्वं श्रुतवन्तः सुखिनो वयम्। सिद्धं नः समीहितम्।' विष्णुशर्मोवाच—'एतावता भवतामभिलषितं संपन्नम्।'

इसके उपरान्त राजपुत्रों ने प्रसन्नता पूर्वक कहा। हमने सब सुना है, हम सुखी हुए, हमारी इच्छायें (मनोरथ) पूरे हो गए। विष्णु शर्मा ने कहा कि तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण हुआ है।

मित्रं प्राप्नुत सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः ।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिः' ॥२१६॥

और यह भी हो—

सज्जन लोग सुहृद प्राप्त करें। देश वासी लक्ष्मी प्राप्त करें। राजा जन सदैव स्वधर्म पर रह कर पृथ्वी का पालन करें। आपकी नीति सुकृति जनों को नव युवति के समान चित्र को प्रसन्न करे। भगवान शंकर (सब मनुष्यों का) इस जन का कल्याण करें ॥२१६॥

इति हितोपदेशे मित्रलाभो नाम प्रथमः कथा संग्रहः समाप्तः ।